अध्याय-द्वितीय
सम्बन्धित समाजशास्त्रीय साहित्य एवं अवधारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन

2.1 भारत में जाति व्यवस्थाः अवधारणा एवं सैद्धान्तिक विवेचन

प्रो0 इरावती कर्वे का मानना है कि भारतीय संस्कृति के तत्वों को पूर्ण रूपेण समझने के लिए जाति का अध्ययन आवश्यक है।

जाति के शाब्दिक अर्थ से लेकर इसके प्रकार्यात्मक, संरचनात्मक, सांस्कृतिक, संगठनात्मक, संस्थागत आदि से सम्बन्धित अनेक परिभाषाएं समाजशास्त्रियों और अन्य वैज्ञानिकों ने दी है।

जाति का शाब्दिक अर्थ (Etymological Meaning of Caste) –

जाति अंग्रेजी शब्द कास्ट का हिन्दी रूपान्तर है। जिसे पुर्तगाली भाषा में 'Casta' से व्युत्पन्न माना जाता है। जहाँ इसे विभेद या मत के रूप में प्रयोग किया जाता है। संस्कृत की 'जन' धातु से 'जाति' शब्द व्युतपन्न है। जिसका अर्थ जन्म या उत्पादित है। अर्थात् जन्म के अनुसार अस्तित्व का रूप ही जाति है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र और अस्पृश्य वर्ण के स्तर की अनेक जातियाँ प्राथमिक रूप से हिन्दूओं में मानी जाती है।

जाति शब्द की उत्पत्ति पर सर्वप्रथम ग्रेसिया-डी-ओर्टा (Gracia de orta) ने सन् 1665 में प्रकाश डाला था। इसके बाद फ्रांसीसी विद्वान अब्बे दुबाय ने इस अवधारणा का प्रणेय प्रजाति के सम्बन्ध में किया था।

जाति जय/वंशानुक्रम पर आधारित होती है (Caste is based on birth/hereditariy) –

सभी विद्वानों ने जाति के अर्थ तथा विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसकी विशिष्ट विशेषता जन्म पर आधारित सदस्यता पर प्रकाश डाला है

अर्थात जो जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवनपर्यन्त उसी का सदस्य बना रहता है। सामान्यता इसकी सदस्यता को परिवर्तित नही किया जा सकता है।

प्रो० कूले के अनुसार – "जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहा जाता है।"

डी0एन0 मजूमदार एवं टी0एन0 मदान – "जाति एक बन्द वर्ग है।" बन्द वर्ग से तात्पर्य है कि जाति एक ऐसा वर्ग है जिसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है। जाति से बाहर का कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य नही बन सकता। जाति के बीच जन्मे व्यक्ति ही इसके सदस्य बन सकते हैं।

कुछ विद्वानों ने जाति का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी दो विशेषताओं – जन्म एवं अन्तर्विवाह पर प्रकाश डाला है।

केटकर के अनुसार – "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएं होती हैं :-

1. सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो सदस्यों से जन्म लेते हैं।
2. सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।"

हॉबेल के अनुसार "अन्तर्विवाह और अनुवांशिक पद के द्वारा सामाजिक वर्गो को एक स्थाई और अपरिवर्तनीय रूप दे देना ही जाति है।"

मार्किण्डेल और मौनचौसी के अनुसार – "जाति व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिनको कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का भाग जन्म से निश्चित होता है। जिनको जादू और धर्म की स्वीकृति या समर्थन प्राप्त होता है।"

रिजले के अनुसार "जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन है। जिसका एक सामान्य नाम है जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या

देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है। समान अनुवांशिक व्यवसाय को करने पर जोर देता है और सम्मति देने में समर्थ लोगों द्वारा एक सजातीय समुदाय माना जाता है।"

हबर्ट रिजले ने जाति की विशेषताओं में एक निश्चित नाम, सामान्य उत्पत्ति का स्रोत, वंशानुगत व्यवसाय वाला, सजातीय समुदाय बताया है।

हट्टन ने **'कास्ट इन इण्डिया'** नामक पुस्तक में जाति की अनेक परिभाषाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के बाद निष्कर्ष निकाला है कि जाति की परिभाषा शब्दों या वाक्यों में देना सम्भव नही है। अगर जाति को समझना है तो हमें इसकी विभिन्न विशेषताओं को समझना होगा। जाति की कुछ प्रमुख विशेषताएं हैं। 1. जन्म पर आधारित सदस्यता, 2. अन्तर्विवाह एवं वंशानुगत व्यवसाय। एन0के0 दत्त और जी0एस0 घूर्ये ने जाति के प्रमुख लक्षण छः बताए हैं।

1. एक जाति के सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नही कर सकते।
2. एक जाति के सदस्यों पर अन्य जातियों के सदस्यों के साथ खाने-पीने के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध होते हैं।
3. अधिकतर जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।
4. सभी जातियों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण होता है जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है।
5. व्यक्ति की जाति का निश्चय सर्वमान्य रूप से जन्म के आधार पर होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके नियमों का उललंघन करने के कारण निकाल दिया जाए तो एक जाति से दूसरी जाति की सदस्यता प्राप्त करना असम्भव है।
6. सम्पूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर आधारित है।

जी0एस0 घूर्ये ने अपनी पुस्तक "जाति, वर्ग और व्यवसाय" में जाति के छह: लक्षणों का उल्लेख किया है। हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षण तब के बताए जा सकते हैं जब यह जाति के सामाजिक दर्शन के नियमों द्वारा शासित होता था तथा इस आधुनिक विचारधारा के अधिकार और कर्तव्यों का प्रभाव नही पड़ा था।

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन है (Segmental division of soceity)
2. संस्तरण है (Hirrely)
3. खान-पान एवं सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध है (Restrictions on feeding and social intercourse)
4. विभिन्न जातियों की नागरिक तथा धार्मिक निर्योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार (Civil and Religious Disabilities and Privileges at the different sections)
5. व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का अभाव है (Lack at unrestricted choice of occupation)
6. विवाह पर प्रतिबन्ध है (Restrictions on Marriage)

जाति की विभिन्न परिभाषाओं और विशेषताओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जाति की सदस्यता का निर्धारण जन्म से होता है। इसके द्वारा समाज का स्तरीकरण होता है तथा समाज के प्रत्येक सदस्यों का अन्य सदस्यों, समूहों तथा जाति के सन्दर्भ में संस्तरण, खण्डनात्मक विभाजन, व्यवसाय, खान-पान, सामाजिक, नागरिक और धार्मिक, विशेषाधिकार एवं निर्योगताएँ, व्यवसाय, विवाह आदि अनेकानेक बातें, नियंत्रित तथा संचालित होती है। जाति व्यवस्था प्रदत्त व्यवस्था है। यह पवित्रता और अपवित्रता पर आधारित एक ऐसा खण्डात्मक विभाजन है जिसमें विशिष्ट अधिकार और कर्तव्य तथा उच्च व निम्न परिस्थिति वाले अन्तर्विवाही समूह होते है:-

जाति की विशेषताएँ

संरचनात्मक विशेषताएँ	संस्थात्मक विशेषताएँ
1. खण्डात्मक विभाजन	1. खान-पान एवं सहभोज पर प्रतिबन्ध
2. संस्तरण	2. सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध
	3. नागरिक तथा धार्मिक असमर्थताएँ
	4. व्यवसाय पर प्रतिबन्ध
	5. विवाह पर प्रतिबन्ध
	6. प्रदत्त सदस्यता

जाति की संरचनात्मक विशेषताएँ है (Structural characteristics of caste)

जाति की संरचनात्मक विशेषताओं से तात्पर्य है कि जाति का समाज की संरचना में क्या स्थान है। वह एक इकाई के रूप में सामाजिक संरचना में अन्य जाति की इकाइयों से किस प्रकार सम्बन्धित है? अन्य इकाईयों से वह किस प्रकार प्रभावित होती है एवं प्रभाव डालती है। जाति हिन्दू समाज की संरचना का प्रतिमान कैसे बनाती है? जाति एक इकाई एवं संरचना के रूप में हिन्दू समाज का स्तरीकरण का निर्धारण एवं संचालन कैसे करती है। जाति की हिन्दू सामाजिक संगठन में एकता और अपहिर्यता के रूप में जो विशेषताएं स्पष्ट होती है वे संरचनात्मक विशेषताएं हैं। जाति की संरचनात्मक विशेषताएं मुख्य रूप से दो है - हिन्दू समाज का **खण्डात्मक विभाजन** एवं हिन्दू समाज का **संस्तरण**।

खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)- घूर्ये ने जाति व्यवस्था की प्रथम विशेषता हिन्दू समाज को अनेक खण्डों में विभाजित करना बताया है। प्रत्येक खण्ड एक जाति अथवा उपजाति कहलाता है। प्रत्येक खण्ड में सदस्यों की सामाजिक स्थिति उनके उत्तरदायित्व व कार्य जाति द्वारा पूर्व निश्चित होते है। एक जाति के सदस्य अपनी जाति के प्रति उत्तरदायी होते है। घूर्ये के अनुसार नागरिकगण अपनी नैतिक निष्ठा के मामले में सम्पूर्ण समुदाय के स्थान पर अपनी जाति को प्रथम स्थान देते थे। आपका खण्डात्मक

विभाजन से तात्पर्य इसी निष्ठा पर आधारित छोटे-छोटे अनेक जातिय समूहों में विभाजन से है। जिनकी अपनी परिषदें होती हैं। जिसे 'जाति पंचायत' कहते है। प्रशासनिक संस्था जाति पंचायत का कार्य अपनी जाति के सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना होता है। नियमों की अवहेलना करने पर जाति-पंचायत उन्हें दण्डित करती है। जिन अपराधों पर यह निर्णय देती है। उनमें मुख्य रूप से निषिद्ध खान-पान या पारस्परिक व्यवहार का उल्लंघन और ऋण चुकाना है।

घूर्ये ने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि **"जातियाँ छोटी तथा अपने आप में समूची सामाजिक दुनियाएँ होती हैं और विशाल समुदाय में सम्मिलित रहते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न होती है।"** इन विभिन्न खण्डों व जातियों में उच्चता व निम्नता मिलती है जो इसकी एक ओर विशेषता है।

संस्तरण (Hierarchy) – भारतवर्ष में अनेक जातियाँ हैं। परन्तु किन्हीं भी दो जातियों की परिस्थिति समाज में समान नही होती है। समाज में विभिन्न खण्डों, जातियों वर्णो या वर्गो की उच्चता व निम्नता के आधार पर आरोही अथवा अवरोही क्रमबद्धता को संस्तरण कहते हैं।

जाति की उच्चता व निम्नता का निर्धारण सम्बन्धित समाज में उसकी धार्मिक प्रतिष्ठा, व्यवसाय, खान-पान, पवित्रता, अपवित्रता आदि से होता है तथा वह परम्परागत होती है। व्यक्ति जिस जाति या खण्ड में जन्म लेता है उसकी सदस्यता जीवनपर्यन्त उसी की सदस्यता रहती है।

जाति की संस्थापक विशेषताएँ (Institutional Characteristics of Caste) भारतीय सामाजिक व्यवस्था में:

जाति की संस्थात्मक अथवा सांस्कृतिक विशेषताओं में निम्न नियंत्रण है।

खान-पान एवं सहभोज पर प्रतिबन्ध (Restrictons on feeding and commensulity)

जाति व्यवस्था में खान-पान एवं सहभोज से सम्बन्धित अनेक प्रतिबन्ध मिलते हैं। इन प्रतिबन्धों के द्वारा निश्चित किया जाता है कि एक विशिष्ट जाति का व्यक्ति क्या खा सकता है। किन-किन जातियों को कौन सा भोजन खिला सकता है। तथा उसके हाथ का खा सकता है। इस सम्बन्ध में ई.ए. एच.ब्लंट ने अपनी पुस्तक **"सोशियल सर्विस इन इण्डिया"** में निम्न निषेधों का उल्लेख किया है।

1. पंक्ति निषेध – एक जाति के व्यक्ति किन-किन जाति के लोगों की पाँत में बैठकर भोजन कर सकते हैं और किन की पाँत में नहीं।
2. पाक निषेध- एक जाति किन-किन व्यक्तियों द्वारा पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर सकती है।
3. भोजन निषेध- एक जाति के व्यक्ति को भोजन करते समय किन संस्कारों का पालन करना चाहिए।
4. जल निषेध- किसके हाथ का पानी पीना चाहिए और किसके हाथ का नहीं।
5. खाद्य निषेध- जाति क्या खाए और क्या ना खाए।
6. हुक्का-पानी निषेध- किसका हुक्का पानी पीना है और किसके पास बैठकर पीना है।
7. पात्र निषेध- खाने पीने व भोजन पकाने के लिए किस प्रकार के बर्तन व्यवहार में होने चाहिए।

प्रो0 घूर्ये ने लिखा है कि समस्त भोजन 'कच्चा' तथा 'पक्का' दो वर्गो में विभाजित है। जल द्वारा बना भोजन कच्चा तथा घी या तेल द्वारा बना भोजन पक्का कहलाता है। घूर्ये ने इन निषेधों को निम्न रूप से प्रस्तुत किया है–

"नियमानुसार किसी भी व्यक्ति को अपनी ही जाति के सदस्य के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा बनाए गए भोजन को कभी ग्रहण नही करना चाहिए। सामान्यता अधिकतर जातियों को ब्राह्मण के हाथ से 'कच्चा' भोजन ग्रहण करने में आपत्ति नही होती।" ब्राह्मण कच्चा भोजन किसी भी अन्य जाति के सदस्य के हाथ से ग्रहण नही कर सकता।

ऊँची जाति का व्यक्ति नीची जाति के सदस्य के हाथ से 'कच्चा' भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। लेकिन नीची जाति का व्यक्ति ऊँची जाति से कच्चा भोजन ग्रहण कर सकता है। ब्राह्मण पक्का भोजन केवल कुछ ही जातियों के हाथ से ग्रहण कर सकता है।

खाद्य पदार्थ दो वर्गो में विभाजित किए गए हैं– **शाकाहारी और माँसाहारी** खाद्य पदार्थ के अनुरूप ब्राह्मण, वैश्य और कुछ शूद्र वर्ण एवं अपृश्य जातियाँ माँसाहारी होती हैं। जाति में पात्र से सम्बन्धित निषेध भी कठोर रहे हैं। सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, मिट्टी आदि पात्र क्रम से उच्च पवित्रता से निम्न पवित्रता वाले माने जाते हैं

सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Social Intercourse)

जाति प्रथा एक ऐसी प्रथा है जिसमें सामाजिक जीवन से सम्बन्घित भी अनेक विशेषाधिकार एवं निर्योगताएं मिलती हैं। व्यक्ति जाति और समाज के स्तर पर जातियों में परस्पर सामाजिक सम्पर्क, समीपता, अर्थात् सामाजिक समागम से सम्बन्धित अनेक चौका देने वाले निषेध देखे जा सकते हैं।

प्रो0 घूर्ये लिखते है कि पवित्रता, अपवित्रता, छुआछूत आदि के विचार उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में अधिक फैले हुए हैं। दक्षिण भारत में मान्यता है कि अगर अछूत की छाया उच्च जाति के व्यक्ति पर पड़ जाति है तो वह अपवित्र हो जाता है। कोई भी ऊँची जाति का व्यक्ति किसी चमार या डोम को नहीं छूता है। बहुत सी नीची जाति के व्यक्ति को मन्दिर के चौक में प्रवेश नही करने दिया जाता है। निम्न जातियों को गाँव की बहारी सीमा पर रहने के लिए बाध्य किया जाता है।

प्रो0 घूर्ये ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक समागम सम्बन्धित प्रतिबन्धों पर प्रकाश डाला है। सिद्धान्त रूप में ऊँची जाति का व्यक्ति अपने से नीची जाति के सदस्य द्वारा स्पर्श हो जाने पर अपवित्र हो जाता है। लेकिन व्यवहार में इस नियम का दृढ़ता से पालन नही किया जाता।

नागरिक तथा धार्मिक असमर्थताएँ है (Civic and Religious Disabilities)

जाति व्यवस्था में विभिन्न जातियों की नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्ताएं एवं विशेषाधिकार सम्पूर्ण भारत में न्यायिक रूप से अनेक रही है। अनेक क्षेत्रों में जहाँ ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों को उनके समाज में उच्चता के स्तर के अनुसार विशेषाधिकार प्राप्त थे वही दूसरी ओर निम्नतम जातियों -विशेष रूप से अस्पृश्य जातियों- की उनके स्तर के अनुसार अनेक निर्योगताएँ और असमर्थताएँ थी। घूर्ये, जेम्स, फार्बस, स्लेटर, थर्सटन, रसेल, विल्सन, आदि ने अपने-अपने अध्ययनों के आधार पर अनेक असमर्थताएं एवं निर्योग्यताएं होती है।

प्रो0 घूर्ये ने लिखा है कि सम्पूर्ण भारत देश में अछूत जातियों को गाँव के उन कुओं से जल निकालने की अनुमति नही होती, जहाँ से अन्य जातियों के लोग जल निकालते हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों को विशेषाधिकार अधिकतम प्राप्त थे तथा असमर्थताएं न्यूनतम तथा इसके विपरीत

निम्नतम जातियों पर धार्मिक एवं नागरिक प्रतिबन्ध एवं निर्योग्ताएं अधिकतम थी तथा विशेषाधिकार न्यूनतम थे। इन विशेषाधिकार एवं असमर्थताओं के क्षेत्र में ग्रामीण आवास क्षेत्र, भवन निर्माण की सामग्री एवं मंजिलें, वस्त्र, आभूषण, संस्था, कुओं से पानी लेना, अपराध एवं दण्ड निर्धारण, राजस्व कर आदि थे।

व्यवसाय पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Occupation)

जाति व्यवस्था में व्यवसाय परम्परागत होते थे। सामान्यतया जो जिस जाति में जन्म लेता है वह बड़ा होने पर उस जाति का व्यवसाय अपनाता है। जाति में व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते है। जैसे- नाई, धोबी, स्वर्णकार, चर्मकार आदि अपना व्यवसाय परम्परागत रूप में करते रहते हैं।

विवाह पर प्रतिबन्ध (Restriction on Marriage)

जाति व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता विवाह पर प्रतिबन्ध है। जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति में ही विवाह सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। सिद्धान्तः जाति या उपजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर वर-वधू तथा उनके माता-पिता को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वेस्टरनपार्क ने तो अन्तर्विवाह को जाति व्यवस्था का एक सार माना है। घूर्ये के अनुसार अन्तर्विवाह अर्थात अपनी ही उपजाति में विवाह करने के इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं। और उसका कारण अनुलोम विवाह प्रथा का होना बताया है। घूर्ये ने महाराष्ट्र तथा गुजरात के उदाहरण देकर इस विशेषता को समझाया है। महाराष्ट्र में कोंकणस्थ ब्राह्मण को कोंकणस्थ ब्राह्मण परिवार में जन्मी कन्या से विवाह करना होता है। गुजरात में विवाह का क्षेत्र और भी छोटा होता है। व्यापार करने वाली बनिया जाति में माली, पोखाल, मोड़ आदि की अनेक शाखाएं होती हैं जैसे - दस्सा पोरवाल, बीसा पोरवाल, आदि इनमें भी सूरत के हस्से सूरत वालों में तथा बम्बई के हस्से बम्बई वालों में ही विवाह करते है। जाति की विशेषता यही है कि विवाह अपने निज के

समूह में ही होना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन करने पर समूह से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

प्रदत्त सदस्यता (Ascribed Membership)

जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है अर्थात् जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवनपर्यन्त वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है। जाति व्यवस्था में व्यक्ति अपनी सदस्यता व्यक्तिगत गुणों - शिक्षा, बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता, व्यवसाय, ईमानदारी, धर्म आदि के द्वारा परिवर्तित नही कर सकता है। जाति की सदस्यता को परिवर्तित करना सरल कार्य नही है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को जाति की सदस्यता से बहिष्कृत कर दिया जाता है तथा उसकी समाज में प्रस्थिति गिर जाती है।

निष्कर्षत: जाति क्या है?

जाति (Caste)

जाति भारतीय (हिन्दू) सामाजिक व्यवस्था की कठोर प्रतिबंधित मापदण्डों पर आधारित एक प्रमुख किन्तु अत्यन्त जटिल संस्था है। जिसे अधिकांशत: एक आदर्श प्रकार के कठोर संस्तरणात्मक सामाजिक स्तरीकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे कई रूप में परिभाषित किया गया है। एक इकाई के रूप में जाति एक बन्द शैलीबद्ध परिस्थिति समूह है।

प्रो0 आन्द्रे बेतई के अनुसार, "एक जाति व्यक्तियों का एक छोटा और विशेष नाम वाला एक ऐसा समूह है जिसमें सजाती विवाह, अनुवांशिक सदस्यता और एक विशेष जीवन-शैली की विशेषता होती है तथा जो परम्परा से चले आ रहे एक विशिष्ट व्यवसाय को करता है और जिसे पवित्रता-अपवित्रता की अवधारणा पर आधारित श्रेणीबद्ध व्यवस्था में न्यूनाधिक रूप में एक विशिष्ट सांस्कृतिक परिस्थिति प्राप्त होती है।" सरल एवं संक्षिप्त शब्दों में, एक जाति समान पारम्परिक पेशे वाला एक ऐसा अन्तर्विवाही

सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है तथा जिसके सदस्य सामाजिक व्यवहार, खान-पान, सामाजिक-धार्मिक संस्कार आदि के मामलों में कुछ निश्चित प्रतिबन्धों का पालन करते हैं।

प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास, मेंकिम मैरियट, लुईड्यूमा, आन्द्रे बितई आदि ने इसे एक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि हमें जाति व्यवस्था की वैचारिक सांस्कृतिक विशेषताओं तथा धाराओं की विवेचना करनी होगी। इनका मानना है कि जाति प्रथा एक विचारधारा है। यह एक ऐसी संस्तरण की व्यवस्था है जिसका स्वयं एक दर्शन है।

आन्द्रेबितई ने भी जातियों के संस्तरण की व्याख्या पवित्रता और अपवित्रता के सन्दर्भ में की है। उनका मानना है कि पवित्रता का सिद्धान्त भारतीय समाज का मूल्यांकन और संस्तरण को समझने में चाबी का कार्य करता है। वस्तुओं, जीवों, घटनाओं, स्थानों, दशाओं, क्रियाओं, व्यक्तियों तथा समूहों में पवित्रता तथा अपवित्रता की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इसी भिन्नता के आधार पर उनमें संस्तरण पनपता है। हिन्दू समाज में पवित्रता तथा अपवित्रता का उच्चता व निम्नता के साथ सीधा सम्बन्ध है।

जातिवाद (Casteism)

जातिवाद राजनीति में रूपान्तरित जाति के प्रति निष्ठा है। जातिवादद्वारा जाति के आधार पर ऊँच-नीच की भावना को प्रश्रय दिया जाता है। कुछ व्यक्तियों में चाहे वास्तविक योग्यता न हो, फिर भी किसी जाति विशेष का होने के कारण उन्हें बहुधा लाभ प्राप्त हो जाता है। काका कालेलकर के अनुसार "जातिवाद एक ऐसी उच्च, अन्य तथा सर्वोच्च समूह-भक्ति है जो न्याय, औचित्य, समानता तथा विश्वबन्धुत्व जैसे स्वस्थ सामाजिक मानकों की उपेक्षा करती है।"

यह एक ऐसी कठोर व्यवस्था है जिसमें कुल परम्परा द्वारा व्यक्ति के स्तर (स्ट्रटा) का निर्धारण होता है तथा जिसमें प्रायः सामाजिक गतिशीलता संभव नही होती है। इस व्यवस्था के निर्णायक प्रत्येक स्तर अर्थात जाति के भोजन, विवाह, पूजा तथा पवित्रता-अपवित्रता सम्बन्धी विशिष्ट नियम तथा संस्कार होते हैं तो उसे अन्य उपजातियों से अलग अलग करते है।

जाति एक हित समूह भी है। एक जाति के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों में अपने हितों को सुरक्षित पाते है। इसी विचारधारा ने जातिवाद को बढ़ावा दिया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में एक जाति नाम के अनेक समूह हैं। उनकी संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज, खान-पान आदि भिन्न हैं। फिर भी वे अपने को एक पूर्वज की सन्तानें मानते हैं। उनमें अन्य जातियों की तुलना में अधिक सहयोग एवं एकता की भावना पाई जाती है। ब्राह्मण और क्षत्रियों में विवाह का विरोध कम होता है। अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि जाति-प्रथा एक विचारधारा है। वह धार्मिक उच्चता निम्नता, मूल्यों, पवित्रता-अपवित्रता, पाप-पुण्य, कर्म, छुआछूत आदि पर आधारित है।

जाति व्यवस्था के प्रकार्य (Function of Caste System)

प्रो० जे० एच० हट्टन के अनुसार जाति व्यवस्था के प्रकार्य-

1. **एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से प्रकार्य**
2. **एक जाति समुदाय के दृष्टिकोण से प्रकार्य**
3. **समाज एवं राज्य के दृष्टिकोण से प्रकार्य**

1. व्यक्ति के लिए प्रकार्य है (Functions for the Individual) –

(i) **मानसिक सुरक्षा (Mental Security)** प्रो० हट्टन के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जाति व्यवस्था में एक जाति अपने सदस्यों के जीवन की सभी बातें – सदस्यता, शिक्षा, व्यवसाय, खान-पान, वेश-भूषा, विवाह का

क्षेत्र, जीवनचार्य, सामाजिक सम्पर्क की परिधि, व्यवहार, प्रस्थिति, और भूमिका, कर्तव्य एवं अधिकार, दिनचर्या, आचार-विचार, संस्कृति, आर्थिक स्थिति, जीवन में विकास की सीमाएँ, जीवन सम्बन्धी, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विशेषाधिकार एवं निर्योगताएं आदि निश्चित कर देती है। यह संस्था व्यक्ति को अपने जीवन में कुछ भी सोचने एवं निर्णय लेने के लिए नही छोड़ती है। जाति ये सभी प्रकार्य सम्पन्न करके अपने सदस्यों को जीवनपर्यन्त मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है।

(ii) **सामाजिक सुरक्षा (Social Security)** – जाति अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करती है। जेसे कभी किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति के सदस्य सदैव उसकी सहायता को तत्पर रहते हैं। इस प्रकार जाति अपने सदस्यों को आकस्मिक विपत्तियों के विरूद्ध उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है। साथ ही सदस्यों की सामाजिक स्थिति को भी निश्चित करती है। अर्थात् व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है।

हट्टन लिखते है कि जाति अपने सदस्यों के लिए मित्र हित समाज, पारस्परिक सुविधा क्लब और अनाथालय होती है। वह अपने सदस्यों के लिए स्वास्थ्य-बीमा योजना है। तथा आवश्यकता पड़ने पर उनका अन्तिम दाह संस्कार भी कराती है। इसी कार्य के आधार पर किंग्सले डेविस का मानना था कि "प्रदत्त पदों की व्यवस्था व्यक्ति में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है।"

(iii) **आर्थिक सुरक्षा (Economic Security)** व्यवसाय जाति द्वारा निश्चित होते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित भी होते हैं। जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय में निपुणता स्थापित होती रहती है। इससे प्रत्येक सदस्य को आर्थिक सुरक्षा भी प्राप्त होती है। मोची, धोबी, कुम्हार, चर्मकार, स्वर्णकार होते हैं। जाति अपने सदस्यों का व्यवसाय – आर्थिक, स्तर, प्रशिक्षण, कार्यकुशलता,

क्षमता, व्यवसायिक तकनीक गोपनीय तथ्य आदि प्रदान करके अपने सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती है।

(iv) **व्यवहारों पर नियंत्रण (Control of Behaviour)** घूर्ये ने 'जाति वर्ग और व्यवसाय' में लिखा है कि जाति पंचायत अनेक प्रकार से अपने सदस्यों के व्यवहारों, आचरणों, पारस्परिक झगड़ों, जाति सम्बन्धित नियमों का पालन एवं उल्लंघन आदि पर नियन्त्रण रखती है। जाति व्यवस्था के सभी लक्षणों, प्रतिबन्धों निर्योग्ताओं एवं विशेषाधिकारों का व्यक्ति से सम्बन्धित नियन्त्रण एवं निर्देशन का कार्य जाति करती है। जब कोई सदस्य नियम विरोधी व्यवहार करता है तो सम्बन्धित जाति उसे दण्डित करती है।

(v) **वैवाहिक सुरक्षा (Marital Security)** व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित विवाह का कार्य जाति द्वारा ही निश्चित किया जाता है। जाति की परिभाषा में विद्वानों ने लिखा है कि जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। जिसका तात्पर्य है कि जो जिस जाति में जन्म लेता है उसे अपनी ही जाति समूह में विवाह करना होता है। अपनी जाति से बाहर विवाह करना निषिद्ध है।

जाति व्यवस्था व्यक्ति के जीवन से सम्बन्घित सभी प्रकार के क्षेत्रों में सुरक्षा प्रदान करती है। व्यक्ति को मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यवहारिक आदि से सम्बन्घित कुछ भी नही सोचना पड़ता है। व्यक्ति के लिए जाति एक सम्पूर्ण बहुआयामी संस्था है। जो व्यक्ति के लिए जन्म से लेकर मृत्यु तक की पूर्ण व्यवस्था प्रदान करती है।

2. जाति समुदाय के लिए प्रकार्य (Functions for the Caste Community)

(i) **सदस्यता एवं सस्तरण का निर्धारण (Determination of Membership and the Hierarchy)** – एक जाति समुदाय के वही सदस्य होते है जिनका जन्म इस जाति समुदाय में होता है। जाति से बाहर के व्यक्तियों को सदस्य

नही बनाया जा सकता है। अगर कोई जाति अपने सदस्यों की संख्या बढ़ाना चाहती है तो वह जन्म दर वृद्धि करके ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार जाति व्यवस्था समाज की विभिन्न जातियों की सदस्यता का निर्धारण करती है। इसके अतिरिक्त जाति व्यवस्था प्रत्येक जाति की सामाजिक स्थिति को अन्य जातियों के संदर्भ में भी निश्चित करती है कि विभिन्न जातियाँ किन-किन से उच्च अथवा निम्न है। 'घूर्ये' ने इसको 'जातियों का संस्तरण कहा है।'

(ii) **सामाजिक नियंत्रण एवं संस्कृतिकरण (Social Control and Culturalization)** – हट्टन के अनुसार जाति समुदाय एक संघ (कम्पनी) है जिसे व्यवस्था अपने सदस्यों के व्यवहार खान-पान, व्यवसाय, विवाह, सदस्यता आदि से सम्बन्धित विशेषाधिकार एवं प्रतिबन्धों को नियंत्रित तथा संचालित करने के योग्य एवं समर्थ बनाती है। जाति अपने सदस्यों को संगठित रखती है। हट्टन ने लिखा है कि इस संगठन के कारण जाति अपनी स्थिति को ऊंचा उठाती है। हालांकि यह कार्य सरल नही है। उच्च स्थिति कई पीढ़ियों में जाकर प्राप्त होती है। आपने लिखा है कि कोई जाति प्रचार एंव संगठन के द्वारा अपना नाम बदलकर तथा अपने सदस्यों के भोजन और विवाह सम्बन्धित व्यवहार के धार्मिक नियमों में परिवर्तन करके समाज में अपनी स्थिति ऊँची बना लेती है। उदाहरणार्थ – आसाम के डोम या हरि बिट्ट बनिए बन गए। बाद में ये राजपूताने (राजस्थान) के बनिए माने जाने लगे। इसी प्रकार पंचाल शिल्पी – विश्वकर्मा-ब्राह्मण चमार-गहलौत-राजपूत और नाई-नाई-ब्राह्मण बन गए। कुछ पीढ़ियों में समय के साथ साथ विश्वकर्मा ब्राह्मण में से विश्वकर्मा, गहलौत-राजपूत में से गलौत तथा नाई ब्राह्मण में से नाई विशेषण हट गए तथा इन निम्न जातियो ने समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। प्रो0 श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण की आवश्यकता कहा है।

(iii) **संस्कृति का हस्तांतरण (Transmission of Cultgure)** –जाति एक ऐसी समिति या संघ है जो अपने सदस्यों को पारस्परिक सहायता प्रदान करती है तथा उनके हितों को प्राप्त करने का प्रयास करती है। हट्टन ने इसे ट्रेड-यूनियन बताते हुए लिखा कि यह अपनी संस्कृति का हस्तान्तरण करती है। जाति अपने हस्त-शिल्प सम्बन्धी रहस्य एवं व्यवसायिक ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। जाति से सम्बन्धित व्यवहार के प्रतिमान ज्ञान, व्यवसायिक कौशल, प्रवीणता, चातुरी को सुरक्षित एवं अन्य जातियों से गुप्त रखने एवं पीढ़ी-दर पीढ़ी संचारित करने का कार्य भी जाति एक संघ के रूप में करती है। जाति से सम्बन्धित सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखना, उसका संवर्द्धन करना पर्यावरण से अनुकूलन करना आदि का कार्य जाति समुदाय करता रहा है। जाति समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्मिलित कार्यवाही करता है। जिसमें नगरों तथा महानगरों में हड़ताल करने तक के उदाहरण सम्मिलित है। विभिन्न राजनैतिक चुनावों में जातिवाद तथा जाति की एकता सम्बन्धित प्रभाव देखे जा सकते है। आजकल सरकारी तथा गैर-सरकारी नौकरियों की नियुक्ति में जाति के कार्य एक संघ, समिति, गिल्ड या जातिवाद के रूप में देखे जा सकते हैं।

(iv) **धार्मिक कार्य (Religious Functions)** धार्मिक क्षेत्र में जाति-व्यवस्था इस प्रकार से कार्य करती है कि एक जाति अपने सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों और क्रियाओं को आचार संहिता एवं जनमत के परिवर्तन की दशा एवं दिशा के अनुसार संशोधित एवं परिवर्तित करती रहती है। सम्मान पाने के लिए अपने सदस्यों पर मुर्गी या सूअर नहीं रखने तथा उनका माँस खाना छोड़ने के लिए दबाव डाला। इसी प्रकार से नीची जाति ने समाज में ऊँचा उठने के लिए पहला कदम, विधवा, पुनर्विवाह पर रोक लगाई तथा ऊँची जाति के व्यवहारों तथा धार्मिक लक्षणों का अनुकरण किया। नर्मदेश्वर प्रसाद का कहना है कि निम्न जातियों में बन्धनों में वृद्धि हुई है तथा उच्च जाति के अनेक

निषेधों को निम्न जातियों ने अपनाया है। पर्दा प्रथा, शाकाहारी, भोजन, महिलाओं को घर से बाहर काम पर नही जाने देना। विधवा-पुनर्विवाह पर रोक, अपवित्र व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसायों को अपनाना आदि जाति -संघ अपने सदस्यों को व्यवहार में लाने के लिए बाध्य करता है। संचार एवं यातायात के साधनों आदि से प्रान्तीय एवं अखिल भारतीय जाति संघों के जातीय संगठन देखे जा सकते हैं। इन संगठनों के द्वारा जातियाँ अपने सदस्यों के लिए उपर्युक्त वर्णित कार्यों को व्यवस्थित और सुचारू रूप से कर रही है।

यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति अपने सदस्यों के लिए एक संघ और एक ट्रेड यूनियन है जो सामाजिक नियंत्रण, संस्तरण सदस्यता, संस्कृतिकरण, सामाजिक हस्तान्तरण, आर्थिक एवं व्यवसायिक बीमा आदि के कार्य करती है।

3. **समाज एवं राष्ट्र के लिए प्रकार्य (Functions for the Society and the Nation)** -

जाति व्यवस्था ने अनेक वर्षो तक समाज एवं राज्य के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रकार्य किए है जैसे - सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिरता प्रदान करना, समाज का एकीकरण करना, समाज को नियंत्रित रखना तथा जनसंख्या का सन्तुलन बनाए रखना आदि है। इन प्रकार्यो पर हट्टन, एबेहुबाय, फर्निवाल, हिल, राधाकृष्ण मुखर्जी आदि ने प्रकाश डाला है।

(i) **सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिरक (Social and Political Stabilizer)** जाति व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भारतीय समाज और राष्ट्र को सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिरता प्रदान करना रहा है। इस सम्बन्ध में ऐबे दुंबाय (Abbe dubois) ने 'ए डेस्क्रीप्शन ऑफ दा पिपल ऑफ इण्डिया' 1817 में लिखा है कि जाति व्यवस्था ने निम्न कार्य किए हैः-

- भारत की पूर्ण बर्बता से रक्षा
- व्यवस्थित सरकार के लिए निश्चित आधार प्रदान करना
- स्वेच्छाचारी शासन के विरूद्ध सुरक्षा
- कलाओं की सुरक्षा के साधन के रूप में
- विदेशी शासकों के शासनकाल में हिन्दू संस्कृति के प्रतिमान की रक्षा।

प्रो0 एस.सी. हिल ने भी ऐसे विचार अपनी पुस्तक **'ऑरिजन ऑफ कास्ट सिस्टम इन इण्डिया'** में लिखा है कि हिन्दूओं का सामाजिक जीवन और राजनैतिक जीवन अलग-अलग होता है। जबकि यूरोप में सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाएं एक होती है। इसलिए भारत का जीवन स्थायी रूप से स्थिर रहता है। वह किसी भी प्रकार की सरकार से स्वतन्त्र रहा है।

हट्टन ने निम्न शब्दों में जाति-व्यवस्था को समाज का स्थिरक बताया है। "भारतीय समाज अनेक आक्रमणों, अकालों, क्रान्तियों और सभी प्रकार की सामाजिक विप्लव (उथल-पुथल) जिसमें विदेशी धर्मो के आक्रमणकारियों, जो आवश्यक (विशेष) रूप से हिन्दूवाद के प्रतिद्वन्दी हैं, की जीत के उपरान्त भी जीवित रहा है और यह सब कुछ निसन्देह जाति व्यवस्था के कारण सम्भव हुआ है। जिस पर भारतीय समाज ने अपना निर्माण किया है। वह जाति-व्यवस्था जो इस्लाम अथवा ईसाई लोगों द्वारा धर्म-परिवर्तन किए जाने पर भी प्रायः जीवित रही है।"

जाति व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति को सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्थिरता प्रदान की है।

(ii) **सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)** – सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने में भी जाति व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जाति-व्यवस्था का

आधार कर्म है और कर्म का सिद्धान्त आर्थिक मान्यताएँ के द्वारा नियंत्रित और निर्देशित होता है।

जाति के सदस्य अपने अच्छे और बुरे कर्मो का सम्बन्ध आलौकिक शक्ति से मानते हैं। वे अपनी वर्तमान परिस्थिति, भूमिका, व्यवसाय, लाभ-हानि, यश, अपयश, जीवन-मरण आदि को विधि के हाथ मानते हैं।

(iii) **सामाजिक स्तरीकरण (Social Startification)** - संसार के सभी समाजों में तथा सभी कालों में सामाजिक स्तरीकरण रहा है। समाज के व्यवस्थित एवं संगठित रहने के लिए स्तरीकरण आवश्यक है। भारतवर्ष में यह कार्य सदियों से जाति-व्यवस्था के द्वारा किया गया है। जाति-व्यवस्था के द्वारा किया जाता रहा है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियाँ परस्पर उच्च-निम्न क्रम में व्यवस्थित की जाती है तथा उनको परस्पर संगठित रखकर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। भारतवर्ष में सदियों से सामाजिक स्तरीकरण का कार्य जाति-व्यवस्था करती आई है।

(iv) **सामाजिक एकीकरण (Social Integration)** - जाति व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज में एकता व सुरक्षा विद्यमान है। भारत में अनेक प्रजातियाँ व जातियां रही हैं। लेकिन अनेक जातियों के होते हुए भी जाति समाज को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करती है।

प्रो० गिलबर्ट ने कहा है कि, "भारतवर्ष की जाति प्रथा यूरोप की राष्ट्रीयता के समान है। हट्टन का भी यही मत है कि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज को संगठित करने का कार्य करती है। आपने इन शब्दों में अपने विचार व्यक्त किए हैं - "भारत में जाति को अन्य संस्थाओं से अद्वितीय बना दिया है। वह भारतीय समाज का एकीकरण करना रहा है और विभिन्न प्रतिद्वन्दी समूहों को एक समुदाय में बाँधे रखना है।"

फर्निवल के अनुसार – "भारतीय समाज का निर्माण, विविध समूह मिलकर, एक समूह को बनाते हैं। जिसके प्रत्येक समूह की अपनी विशेषताएं बनी रहती है।"

(v) **जननिक कार्य (Genetic Function)** जाति व्यवस्था ने अपने विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों के द्वारा समाज की जनसंख्या में स्त्री-पुरूष का अनुपात सन्तुलित रखने, रक्त की शुद्धता तथा प्रजनन की शुद्धता बनाए रखने में उल्लेखनीय है। जाति के इन कार्यों पर मजूमदार हट्टन आदि ने प्रकाश डाला है। हट्टन के अनुसार जाति व्यवस्था ने समाज में लिंग अनुपात को हमेशा स्थिर रखा है। इसी व्यवस्था के परिणामस्वरूप भारत में पुरूषों की संख्या स्त्रियों से सर्वदा अधिक रही है। प्रति 1000 पुरूषों में स्त्रियों की संख्या जहां सन् 1901 में 956, 9111 में 908 रही, वहीं 19971 में 911, 1981 में 919 तथा 1991 में 913 रही है। हिन्दूओं में 1991 में 1000 पुरूषों पर 953 स्त्रियाँ पाई गई। हट्टन की मान्यता है कि जाति-व्यवस्था में अन्तर्विवाह पुरूषों की संख्या में बहुलता बनाए रखना है। विद्वानों की मान्यता है कि प्रजातियों के मिश्रण से पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या में वृद्धि होती है। मिश्रित विवाह से अधिक कन्याओं का जन्म होता है। हट्टन ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था में अन्तर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन किया जाता है अर्थात् व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना होता है लेकिन हिन्दूओं में स्त्रियों की कमी के अनेक कारण हैं जैसे – पुत्र का मोक्ष – प्राप्ति के लिए महत्व, पुत्र-पुत्री के पालन-पोषण में भेदभाव, बाल-विवाह के कारण स्त्रियों की प्रसवकाल में मृत्यु हो जाना। कन्या तथा भ्रूण हत्या, स्त्रियों का कुपोषण, नारी शोषण, लड़कों की तुलना में लड़कियों को न्यूतम स्वास्थ्य सुविधायें प्रदान करना। प्रो0 डी0एन0 मजूमदार ने रेसेज एण्ड कल्चर एण्ड इण्डिया में लिखा है कि "यह देखा गया है कि अन्तर्विवाह से लड़के अधिक

पैदा होते है तथा अन्तर्विवाह के विषय के द्वारा जाति-व्यवस्था ने हिन्दूओं की हजारों पीड़ियों की मानसिक शान्ति प्रदान की है।"

(vi) **आर्थिक कार्य (Economic Functions)** – जाति व्यवस्था में विभिन्न आर्थिक कार्यो को करने के लिए श्रम-विभाजन को संचालित और नियंत्रित करती है। जाति-व्यवस्था ने विभिन्न व्यवसायों को अलग-अलग जातीय समुदायों में बाँट रखा है। प्रत्येक जाति अपने व्यवसायों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। समाज में जाति व्यवस्था के द्वारा जजमानी प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न आवश्यकताओं से सम्बन्धित उपभोग, वितरण और विनिमय का कार्य किया जाता है।

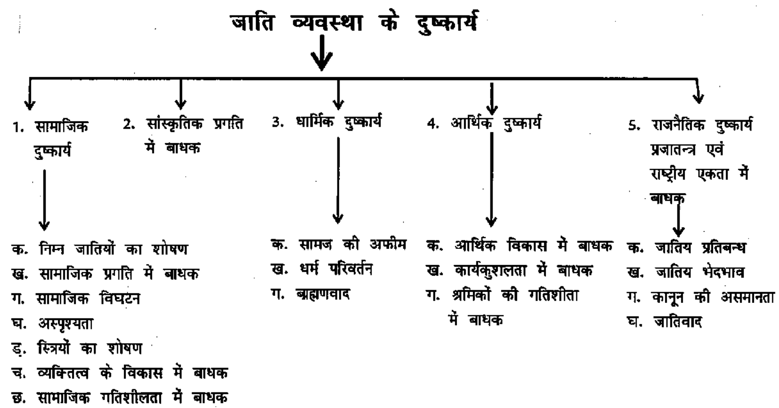
नेसफील्ड की मान्यता है कि जातियों की उत्पत्ति व्यवसायों के कारण हुई है। आपने लिखा है कि जातियां अपने-अपने व्यवसाय चाहे वह धार्मिक और पवित्र हो या मैला उठाने या सफाई करने जैसा अपवित्र और साधारण हो, सम्बन्धित जातियाँ निष्ठा और परिश्रम से करती है जिसे जो भी कार्य मिला हो उसे वह पूर्वजन्म के कर्मो का फल मानते है। जाति-व्यवस्था के द्वारा श्रम का विभाजन, कार्यो का सम्पादन वस्तु विनिमय आदि अनेक आर्थिक कार्यो के लिए किए जाते है।

(vii) **संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of culture)** – किसी भी समाज की सम्पन्नता और संस्कृति की निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि उनकी विशेषताओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहना चाहिए। विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय संस्कृति की निरन्तरता तथा सुरक्षा का कार्य जाति-व्यवस्था ने इसको पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करके पूर्ण किया है। जाति व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विशेषतओं, जैसे - कला, साहित्य, आर्थिकी, धर्म, प्रथाएं, आदर्श मूल्य, व्यवसाय, सामाजिक संस्तरण, भाषा, जीवन के तरीके, तकनीकी

ज्ञान, विभिन्नता में एकता, आदि को सुरक्षित रखना तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अपने प्रतिबन्धों तथा विशेषाधिकारों द्वारा हस्तान्तरित करने का कार्य कुशलतापूर्वक किया।

जाति व्यवस्था के दुष्कार्य (Dysfunctions of the caste system)

जाति व्यवस्था के उपर्युक्त प्रकार्यो के अतिरिक्त इसके दुष्कार्यो या हानियों का वर्णन, राधाकृष्णन पाणिक्कर, शेरिंग, बोस, रौंस, आदि ने किया है जाति व्यवस्था के विघटनात्मक कार्य सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में देखे जा सकते है जो निम्न है :-



डॉ0 अम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था के कुछ अवगुणों का भी वर्णन किया है

1. यह श्रमिकों में विभाजन करती है।
2. व्यक्ति को अपनी रूचि से अलग करती है।
3. बुद्धि को शारीरिक श्रम से असम्बद्ध करती है।
4. महान उद्देश्यों का शोषण करने के श्रमिक के अधिकार से उसे वंचित कर उसे निरूत्साहित करती है।
5. जाति गतिशीलता पर रोक लगाती है।

डॉ0 अम्बेडकर कहते है कि जाति-व्यवस्था केवल श्रम का ही विभाजन नही करती, अपितु यह श्रमिकों का भी विभाजन करती है। भारत में वृहत आधार पर बेरोजगारी के लिए अम्बेडकर जाति-व्यवस्था को भी उत्तरदायी मानते हैं। इसमें व्यक्तिगत भावना (रूचि) या चयन की वरीयता दोनों को कोई स्थान नही है। यह भाग्य पर आधारित एक व्यवस्था है। इसमें न व्यक्तिगत न्याय की कोई गुंजाइश है और न ही इसमें कोई सामाजिक उपयोगिता है।

जाति की उत्पत्ति के सिद्धांत (Theories of Origin of Caste)

अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्वान्त प्रतिपादित किए हैं। कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्न है :-

1. **परम्परागत सिद्धान्त (Theories of Origin of Caste)** - जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित परम्परागत सिद्धांत का स्वरूप वेद, उपनिषद, स्मृति, महाभारत, गीता एवं धर्मशास्त्र में स्पष्ट होता है। सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या ऋग्वेद के 'पुरूषसूक्त' के एक मन्त्र में मिलती है। जिसके अनुसार "ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय का बहू से, वैश्य का जंघा तथा उदर से तथा शूद्र का पैर से उत्पन्न हुए है"। ब्राह्मण बोलने का कार्य करते हैं। चूँकि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है। अत: उनका कार्य अध्ययन-अध्यापन है जिससे वेदों की रक्षा हो सके। बाहु शक्ति की प्रतीक है। अत: क्षत्रियों का कार्य अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग व जन-धन की रक्षा करना है जिससे राज्य की व्यवस्था स्थिर रह सके, जंघा अथवा उदर से उत्पन्न होने के कारण वैश्यों का कार्य कृषि, पशुपालन, व्यापार व दान देना है जिससे समाज में धन की समुचित उत्पत्ति व व्यवस्था हो सके।

2. **धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)** - जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के धार्मिक दृष्टिकोणों को विद्वानों होकार्ट तथा सेनाटी ने प्रमुखता दी है। दोनों के मत इस प्रकार है :-

होकार्ट का मत - होकार्ट के मत में सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था का उदगम धार्मिक क्रियाओं एवं कर्मकाण्डों (Rituals) से सम्बन्घित है। होकार्ट कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं को पवित्रता के आधार पर उच्च व निम्न स्तरों में विभाजित करते हैं। आपके अनुसार प्रारम्भ में ही भारत में धर्म का प्रभाव अत्यधिक था। अनेक धार्मिक कृत्यों को करने वाले अनेक समूह थे जैसे - पुरोहित, यज्ञ-हवन आदि के कार्य करते थे तथा पुष्पादि लाने का कार्य माली करते थे। सामान्य सेवा के लिए कहार आदि थे। अर्थात् इनके मत में चारों वर्णो का विभाजन धार्मिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए ही था। जैसे - ब्राह्मण-श्वेत, क्षत्रिय-लाल, वैश्य-पीला, और शूद्र-काला यह विभाजन भी धार्मिक क्रियाओं की पवित्रता से सम्बन्धित माना जाता है।

3. **प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)** - अनेक विद्वान प्रजातीय मिश्रण को जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। इनमें घूर्ये, रिजले, मजूमदार, एन0ए0 दत्ता प्रमुख विचारक हैं।

घूर्ये के अनुसार इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोग जहाँ भी गए उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों को दास, दस्यु आदि शब्दों से सम्बोधित किया। भारत में आर्य लोग ईसा के करीब 2500 वर्ष पूर्व आए और यहाँ के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त कर उन्हें दास या दस्यू कहा तथा स्वयं की धार्मिक, पवित्रता व विजय के गर्व के कारण वहाँ के मूल निवासियों से दूर रखा। जब इण्डो-आर्यन प्रजाति भारत में आई तब उनमें से तीन वर्ण ऐसे थे जो आपस में साधारण विवाह नही करते थे। भारत में आने के पश्चात आर्य लोगों ने सर्वप्रथम यहां के आदिवासियों से बने शूद्रों से विवाह करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए और उन्हें धार्मिक पूजा आदि करने की आज्ञा नही दी। इस प्रकार जाति-प्रथा आर्यो के उन प्रयत्नों का परिणाम है जिनके द्वारा वे भारत के मूल निवासियों को ब्राह्मण सभ्यता के धर्म तथा सामाजिक संसर्ग से अलग रखना

चाहते थे। घूर्ये जाति-व्यवस्था का प्रारम्भिक स्रोत आर्यो और द्रविड़ों की प्रजाति भिन्नता मानते हैं।

हबर्ट रिजले ने प्रजातीय मिश्रण एवं अनुलोम-विवाह को जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना है।

4. **व्यवसायिक सिद्धान्त (Theories of Origin of Caste)** - इस सिद्धान्त का जन्मदाता नेसफील्ड को माना जा सकता है। हालमेन व बलंट ने भी व्यवसायिक आचार को कारण माना है। नेसफील्ड के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवसायों पर विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच तथा निम्न व्यवसाय करने वाली जाति को निम्न स्थान दिया गया। विभिन्न जातियों में प्रजातीय या शारीरिक लक्षणों की दृष्टि से कोई भेद नही किया जा सकता। जिस समूह ने विशेषा ज्ञान के आधार पर धर्म से सम्बन्धित कार्य किया वे ब्राह्मण कहलाए। जो प्रशासन सम्बन्धी कार्य सम्भालने में लगे रहे वे समूह क्षत्रिय कहलाए। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी व्यवसाय के आधार बने। नैसफील्ड ने जाति की उत्पत्ति में धर्म को कोई स्थान नही दिया है।

डालमैन व बलंट के मत में भी भारतीय समाज में व्यवसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। एक ही व्यवसाय में लगे परिवार सम्मान हितों के कारण संगठित हो गए और व्यवसायिक संघ बन गए और व्यवसायिक ज्ञान पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होने लगा। इस प्रकार व्यवसायिक संघों ने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया।

5. **राजनैतिक सिद्धान्त (Theories of Origin of Caste)** - घूर्ये और अब्बूडूबाय का मानना है कि जाति-प्रथा राजनीति व ब्राह्मणों की चतुर युक्ति का परिणाम है। ब्राह्मणों ने अपने कुल और सम्मान को बनाए रखने के लिए ही जाति-प्रथा को जन्म दिया। आर्य संस्कृति में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। रोमन संस्कृति इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोगों को भारत में आने से पूर्व ही प्रभावित

कर चुकी थी। रोमन संस्कृति में सम्भ्रान्त व्यक्तियों के बीच भेदभाव, कर्मकाण्डों की पवित्रता, तथा निम्न वर्ग के साथ दासों जैसा व्यवहार आदि ऐसी विशेषताएं थी जिन्हें आर्यो ने भी ग्रहण कर लिया। आर्यो ने जब द्रविड़ों को परास्त किया तब उन्होंने उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिए स्वयं को 'द्विज- कहा और यहाँ के मूल निवासियों को 'दास' या शूद्र कहा। बाद में स्वयं को ब्राह्मण का प्रतिरूप मानकर ब्राह्मण कहना प्रारम्भ कर दिया और वैदिक कर्मकाण्डों की पवित्रता बनाए रखने की इच्छा से अनेक ऐसे नियम बना दिए जिससे शूद्रों के साथ उनका मिश्रण न हो सके। इस प्रकार जाति की उत्पत्ति का श्रेय ब्राह्मणों की चतुरबुद्धि को दिया जाता है।

6. **आदिम संस्कृति का सिद्धान्त (Theories of Origin of Caste)** – इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हट्टन हैं। उन्होंने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के तीन पक्षों पर विचार किया है:-

1. व्यवसाय का अनुवांशिक रूप
2. विवाह, खान-पान तथा सामाजिक सहवास
3. जातियों में ऊँच-नीच की भावना

हट्टन ने भारतीय जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति जानने के लिए विभिन्न जातियों में पाए जाने वाले विवाह, खान-पान आदि निषेदों को समझने के लिए माना का सहारा लिया है।

7. **बहुकारक सिद्धान्त** – जाति प्रथा की उत्पत्ति को समझने के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है तथा अनेक कारकों को अमान्य सिद्ध किया गया है। क्योंकि जाति एक जटिल संस्था है। जिसे अनेक कारक प्रभावित करते है। धर्म प्रजाति, भौगोलिक, राजनैतिक कारण, विभिन्न संस्कृति, सम्पर्क, रक्त की शुद्धता, व्यवसाय, कर्मकाण्ड आदि अनेक कारकों के प्रभाव के परिणामस्वरूप जाति की उत्पत्ति मानी जा सकती है। हट्टन स्वयं इसी पक्ष

को मानते है। अतः यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति किसी एक कारक का परिणाम न होकर अनेक कारकों के योग से हुई है।

जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्त को देखने के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि जाति ने समाज के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज जाति-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हो रहे है। ये परिवर्तन किन कारणों से हो रहे हैं। इस पर विचार करना आवश्यक है।

2.2 जाति व्यवस्था को प्रभावित करने वाली प्रक्रियायें:

भारतीय जाति व्यवस्था में परिवर्तन को व्यवस्थित ढंग से समझने और समझाने के लिए प्रो0 श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाओं का सहारा लिया। अपनी पुस्तक 'रिलिज एण्ड सोसाइटी एमंग कुर्ग्स ऑफ साउथ इण्डिया' (1952) में टिप्पणी की "जाति प्रथा कोई ऐसी कठोर प्रणाली नही है जिसमें आने वाले सभी कालों के लिए प्रत्येक घटक जाति की स्थिति हमेशा-हमेशा के लिए निर्धारित हो गयी है। खास तौर पर जाति श्रेणीक्रम के मध्यवर्ती तबकों में परिवर्तन की सम्भावना हमेशा रही है। शाकाहार मध्य त्याग तथा अपने देवकुल एवं कर्मकाण्डों का संस्कृतिकरण कर एक निचली जाति एक या दो पीड़ियों के अन्दर ही जाति श्रेणीक्रम में ऊँचे दर्जे पर पहुँच सकती थी।" इस प्रक्रिया को श्रीनिवास संस्कृतिकरण कहते है।

जाति हिन्दू समाज का संरचनात्मक आधार है और जिस संरचनात्मक ढाँचे में संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया घटित होती है उसे समझे बगैर संस्कृतिकरण को ठीक से समझना सम्भव नही है। साधारणतयः जाति श्रेणी क्रम में ऊपर की जातियाँ मध्यम और निम्न स्थानों पर मौजूद जातियों की तुलना में कहीं अधिक संस्कृतिनिष्ठ है और यही बात निचली जातियों के साथ ही साथ बाहरी जनजातियों के संस्कृतिकरण के लिए भी जिम्मेदार रही है। ऐसा लगता

है कि निचली जातियाँ हमेशा से ऊपरी जातियों के रीतिरिवाजों और जीवन शैली को अपनाने का प्रयास करती रही है।

जाति प्रथा के अन्दर सत्ता के तीन प्रमुख आयाम है। कर्मकाण्डीय, आर्थिक, और राजनीतिक और इनमें से किसी एक आयाम में हासिल शक्ति आमतौर पर अन्य दो मोर्चो पर भी शक्तिशाली होने का रास्ता खोल देती थी। इसका मतलब यह नही कि इसमें कोई विसंगति हुई ही नही। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक धनी जाति की कर्मकाण्डीय स्थिति निम्न होती है।

जाति प्रथा में पदसोपान की भावना सर्वप्रथम है न केवल विभिन्न जातियाँ अपने ऊँचे नीचे स्थान से एक पद सोपान बनाती है बल्कि वे जो काम धन्धे करते हैं उनके खाने-पीने में जो अलग-अलग वस्तुएं होती है और वे जो विभिन्न रीति-रिवाजों को मानते हैं। उन सब का भी अलग-अलग सोपान बन जाता है। इस प्रकार कसाई, चमड़ा पकाने, सुअर पालने और ताड़ी उतारने का धन्धा करने वाली जातियों को निचले स्थान पर रख दिया जाता है। मछली और बकरे का माँस खाने की तुलना में सुअर या गाय का माँस खाना दूषित माना जाता है। जो जातियाँ अपनी देवी-देवता को रक्त की बलि चढ़ाती है उन्हें उन जातियों से निम्न माना जाता है जो फल और फूल चढ़ाती है।

प्रो0 एम.एन. श्रीनिवास अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया' में लिखते हैं ब्रिटिश शासनकाल में अर्थशास्त्रीय विचारों के प्रसार में तेजी आई। यातायात के विकास ने संस्कृतिकरण को उन इलाकों में भी पहुँचा दिया जो पहले दुर्गम थे। और साक्षरता का प्रसार जाति श्रेणी क्रम के निचले तबकों में भी इसे ले गया। रेलवे इंजन, प्रेस, रेडियो और हवाई जहाज जैसी पश्चिमी तकनीकों ने संस्कृतिकरण के प्रसार को मदद पहुँचाई है। भारतीय फिल्में

महाकाव्यों और पुराणों से कहानियों तथा घटनाओं को उठाकर उन्हें और भी लोकप्रिय बना रहे है। नन्दनार, पोतना, तुकाराम, चैतन्य, मीरा, त्यागराज और तुलसीदास जैसे सन्तों के जीवन पर फिल्में बनाई गयी हैं।

अंग्रेजों द्वारा संसदीय लोकतंत्र जैसे पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं की शुरूआत ने भी देश के संस्कृतिकरण को बढ़ाने में अपना योगदान दिया है। भारत गणराज्य के संविधान में मद्य निषेध जेसे संस्कृतिनिष्ठ जीवन-मूल्य को दर्ज किया गया।

ब्राह्मणों की विद्वतापूर्ण परम्परा ने उन्हें जीवन ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक सुविधापूर्ण स्थिति प्रदान की। परन्तु कुछ अन्य मामलों में वे पश्चिमीकरण की दौड़ के लिए नितान्त अक्षम थे। ऐसा खास तौर पर दक्षिण में था। जहाँ उनकी ज्यादातर आबादी शाकाहारी और शराब से दूर रहने वाली थी। छुआ-छूत के डर ने उन्हें दूसरे के बनाये भोजन करने और अपवित्र समझे जाने वाले धन्धों को अपनाने से रोक दिया।

ब्राह्मणों के पश्चिमीकरण का कुल नतीजा कि उन्होंने अंग्रेजी और शेष देशी आबादी के बीच अपने को स्थित कर लिया। परिणामस्वरूप पारम्परिक जाति-प्रथा के ऊपर एक नई और धर्मेत्थर जाति प्रथा थोप दी गई जिसमें अंग्रेज जो नए क्षत्रिय थे। सबसे ऊपर खड़े रहे जबकि ब्राह्मणों ने दूसरे स्थान पर कब्जा कर लिया और बाकी अन्य लोग इस पिरामिड के नीचे के धरातल पर बने रहे। अंग्रेजो की कुछ रीति-रिवाज और जीवन मूल्य ब्राह्मणवादी तौर-तरीकों के विरोधी थे। अतः परिस्थिति काफी भ्रामक हो गयी थी। हालाँकि एक दूसरे के कुछ हद तक विरोधी रहे हैं। और अन्य सभी जातियों के ऊपर ब्राह्मणों की सैद्धान्तिक सर्वोच्चता के बावजूद अपनी राजनीतिक शक्ति

(और उसके माध्यम से आर्थिक शक्ति) के कारण क्षत्रिय हमेशा एक वर्चस्व की स्थिति में रहे हैं।

इस नए श्रेणीक्रम में ब्राह्मणों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। वे उस छलनी की तरह थे जिससे छनकर पश्चिमीकरण मैसूर के शेष हिन्दू समाज में पहुँचा। उन्होंने प्रायः पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में मदद की क्योंकि अन्य जातियाँ ब्राह्मणों के तौर-तरीकों की नकल करने की आदि थी।

ब्राह्मण के जीवन में पश्चिमीकरण से कई परिवर्तन आएँ। उनके कपड़ों और चेहरे मोहरों में एक परिवर्तन आ गया। चुटिया की जगह छँटे हुए बालों ने ले ली। और परम्परागत पोशाक की जगह कम से कम आंशिक रूप से पश्चिमी तौर-तरीकों के वस्त्रों और जूतों ने ले ली। पोशाक में परिवर्तन कर्मकाण्डीय पवित्रता से सम्बन्धित विचारों के धीरे-धीरे कमजोर होते जाना था।

ब्राह्मणों ने कई काम-धन्धे भी अपना लिए हैं। इस सदी के तीसरे दशक में भी ब्राह्मण लोग ऐसे काम धन्धे तथा पेशे अपनाने से कतराते थे। जिनका शारीरिक श्रम करना पड़ता हो, परन्तु समय की मौजूदा आर्थिक मन्दी ने उन्हें नए-नए काम-धन्धों को स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया और अन्ततः द्वितीय विश्व युद्ध ने इस प्रक्रिया को पूर्णता प्रदान की। कई ब्राह्मण फौज में भर्ती हुए जिससे उनके दृष्टिकोण और आदतों में भारी परिवर्तन आया। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले वे नवयुवक जो नौकरी की तलाश में बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली जाना चाहते थे। उन्हें परिवार में अपने से बड़ों का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। परन्तु युद्ध के बाद ऐसे अनेक युवक ने केवल भारत के सभी भागों, बल्कि विदेशों में भी देखे जाने लगे। एकाएक ब्राह्मणों की भौगोलिक तथा सामाजिक सीमाएँ विस्तृत हो गई। पहले ब्राह्मण डॉक्टर

बनने का विरोध करते थे क्योंकि उस पेशे में सभी जाति के लोगों यहाँ तक कि अछूतों और मुर्दो को भी छूना पड़ता था।

पिछले डेढ़ सौ वर्षो में हिन्दू जीवन का आमतौर पर एक धर्मनिरपेक्षीकरण हुआ और इसका ब्राह्मणों पर खासतौर से असर पड़ा है। जिनका जीवन पहले तरह-तरह के कर्मकाण्डों में भरा पड़ा था। हिन्दूओं में किसी भी जाति का जीवन इतना कर्मकाण्डीय नही था। आधुनिक हिन्दू सामाजिक जीवन की एक मजेदार विसंगति यह है कि जहाँ ब्राह्मणों का अधिक से अधिक पश्चिमीकरण हो रहा है। वहीं दूसरी जातियों का ज्यादा से ज्यादा संस्कृतिकरण हो रहा है। जाति श्रेणीक्रम के निचले हिस्से में मौजूद जातियाँ उन्हीं रीति-रिवाजों को अपनाती जा रही है जिन्हें ब्राह्मण त्यागने में व्यस्त हैं।

पारम्परिक एवं अंग्रेजों के आने से पहले की जाति व्यवस्था में कुछ हद तक समुदायों के सामाजिक दर्जे के बदलाव की अनुमति थी। इस प्रणाली के सिर्फ बाहरी किनारे ही अपेक्षाकृत नियत थे। बाकी उसके अन्दर हलचल होती रहती थी। इस जाति श्रेणीक्रम में मध्यवर्ती हिस्से में आने वाली जातियों के परस्पर स्थान को लेकर जो अस्पष्टता बनी हुई थी। उसी कारण यह सम्भव हो पाता था। आम धारणाओं के विपरीत जाति व्यवस्था की कार्य प्रणाली की मुख्य बात जातियों के आपसी दर्जे को लेकर बनी हुई एक अस्पष्टता ही है। अंग्रेजों के आने के बाद जातियों की गतिशीलता बड़े पैमाने पर बढ़ी। अंग्रेजों से पहले के जमाने में जातियाँ मुश्किल से ही दो जून के खाने से अधिक किसी ओर चीज का सपना नहीं देख सकती थी। उन्हें अचानक पैसा कमाने का मौका मिल गया और एक बार पैसा कमाने के बाद अपनी ऊँची सामाजिक हैसियत का दावा ठोकना चाहती थी। उनमें से कुछ जातियों ने तो उच्च सामाजिक स्थान प्राप्त भी कर लिया।

लगभग इसकी काफी सम्भावना है कि अगले 20 से 30 वर्षो में समूचे देश के अन्दर अछूतों की संस्कृति में गम्भीर परिवर्तन आ जाए। यह भी सम्भव है कि उनमें से कुछ जातियाँ तो कई शुद्र जातियों से भी अधिक संस्कृतिनिष्ठ हो जाए। संविधान ने अस्पृश्यता को अमान्य घोषित किया है और इस कानूनी प्रतिबन्ध को व्यवहारिक रूप से लागू करने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं।

देश में दबदबा रखने वाले विचारों का जो मौजूदा हाल है वह जाति प्रथा के भयंकर खिलाफ है। यहाँ तक कि ऐसे लोग भी, जो जातिवाद की समाप्ति के लिए किए जा रहे प्रयासों की सफलता पर गहरा प्रभाव रखते हैं। वे लोग भी यह मानते है कि औद्योगिकरण ओर शहरीकरण लम्बे दौर में जातिवाद के लिए कारगर रूप से विनाशकारी साबित होगा। सवाल यह है कि यह और कितना लम्बा होगा। हालांकि यहाँ एक चेतावनी इस गलतफहमी के खिलाफ जरूर दे देनी चाहिए कि पश्चिमीकरण के सामने जाति मक्खन की डली की तरह नही पिघल जायेगा। जातिवाद का अध्ययन करने वाली इसकी महान शक्ति और नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने की इसकी क्षमता से बहुत प्रभावित है। यह याद रखना उचित होगा कि पिछले सौ वर्षो में जातिवाद कई मामलों में कुछ ज्यादा मजबूत हो गया है और पश्चिमीकरण ने कुछ सीमा तक संस्कृतिकरण में मदद पहुँचाई है। एक सामाजिक संस्था के रूप में जातिवाद की ताकत और परिवर्तन की प्रक्रिया में निहित कई जटिलताओं को देखते हुए यह मान लेना कि इन दोनों में साफ और सीधा विरोध है और इसमें अन्ततः जीत पश्चिमीकरण की ही होगी। (श्रीनिवास, 2001)

जातियाँ : क्या कल के भारत में उनका अस्तित्व सम्भव है?

प्रो० श्रीनिवास जातियों के भविष्य पर टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया' 1969 में लिखते हैं कि जाति को हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए खतरनाक समझते है। उन लोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है जो यह कहते हैं कि लोगों के आपसी सम्बन्धों में जाति जहर घोल रही है। पर अब भी यह उतना ही सच है कि बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग है जो जातिवाद में कोई बुराई नहीं देखते। इस तथ्य को याद रखना जरूरी है। क्योंकि जब तक लोग खुद ही इस बात को समझ न लें कि जाति की अनिवार्य अर्थ जातिवाद ही है और उससे मिलने वाली सुविधाओं के बदले पूरे देश को बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ती है। तब तक कुछ नही हो सकता है। इस तथ्य से आम जनता को वाकिफ करना कोई आसान काम नही है। और अभीं तक न तो किसी राजनीतिक और न ही किसी सामाजिक कार्यकर्ता ने ऐसी किसी समस्या के प्रति कोई दिलचस्पी दिखाई है। जातिविहीन और वर्गविहीन समाज के पक्ष में बोलना आवश्यक है।

प्रगतिशील प्रस्तावों के प्रति सहमति जताने से हमारा विवेक सन्तुष्ट होता है और यह हमें अपनी व्यवहारिक सफलता के प्रति आश्वस्त करता है जबकि इसके साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि कोई गम्भीरता के साथ कुछ करने वाला नही है और जातिवाद वैसा का वैसा ही बना रहेगा।

जातीयता की भावना हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन में इतनी गहराई तक जड़ जमा चुकी है कि नेता समेत हर कोई अप्रत्यक्ष रूप से यह मानता है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डल में हरेक प्रमुख जाति का एक मन्त्री किसी भी कीमत पर होना चाहिए (और यह सिद्धान्त हमारी प्रान्तीय राजधानी से ग्राम पंचायतों तक पहुँचा है – आजकल ग्राम पंचायतों में तो हरिजन समेत प्रत्येक

जाति को प्रतिनिधित्व मिल रहा है।) भारत के किसी भी भाग में बिना जातीय संदर्भ के प्रान्तीय राजनीति की व्याख्या करना सम्भव नही है।

जाति की सत्ता में असाधारण शक्ति निहित है और इसको खत्म करना अत्यन्त आवश्यक है। यह इतना ताकतवर और व्यापक है तथा इसकी पकड़ इतनी मजबूत है कि इस संघर्ष में इसकी शक्ति का सही अनुमान लगाना ही पहला कदम होगा।

आधुनिक तकनीक और विकास से भी जातीय क्षैतीज बढ़ा है। प्रो0 श्रीनिवास लिखते है कि मुद्राण की सेवा, नियमित डाक सेवा, क्षेत्रीय समाचार पत्रों तथा किताबों के प्रकाशन तार, रेलवे एवं बस द्वारा यातायात तक की सुविधा में बसने वाली जातियों के प्रतिनिधि को अपने सामान्य हितों व समस्याओं पर मिलकर विचार करना सम्भव बना दिया। पश्चिमी शिक्षा ने स्वाधीनता और समानता जैसे नए राजनीतिक मूल्यों से अवगत कराया। शिक्षित नेताओं ने जाति विशेष की पत्रिकाएँ शुरू की और जाति-सम्मेलन आयोजित किए खास जाति के संगठन और उसके गरीब सदस्यों की मदद के लिए अनुदान राशि जमा की जाने लगी। जाति विशेष के छात्रावास, अस्पताल, सहयोग समितियाँ आदि शहरी जीवन में आम बात हो गयी थी। कुल मिलाकर यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि पिछले सौ सालों में जातिगत एकता में महत्वपूर्ण विकास हुआ है।

जातियों की क्षैतिज एकता और इसके साथ-साथ विभिन्न जातियों के बीच के तनावों को बढ़ाने में कुछ अन्य तत्वों का भी योगदान रहा है। अगर ब्राह्मण नही थी तो ऊँची जातियों जिनका नई नौकरियों के प्रति लगभग एकाधिकार सा था। उसके कारण अंग्रेजों ने निचली जाति की तरफदारी शुरू कर दी। दक्षिण में विभिन्न रियासतों द्वारा धीरे-धीरे एक ब्राह्मण विरोधी नीति

अपनाया जाना इसी का परिणाम था। सवर्ण हिन्दुओं और हरिजनों के बीच पहले से मौजूद दीवार अब राजनीतिक क्षेत्र में भी खड़ी हो गई थी। विभिन्न जातियों के शिक्षित लोगों में सरकारी नौकरियाँ पाने के लिए होड़ लग गयी और उनकी संख्या नौकरियों से ज्यादा थी। नौकरी पाने के संघर्ष में विभिन्न व्यक्तियों के बीच पैदा हुआ आपसी तनाव उनकी अपनी-अपनी जातियों तक फैल गया। क्योंकि हर जाति के गणमान्य लोग इस होड़ में शरीक थे।

सर्वव्यापी मताधिकार का एक अल्पकालिक प्रभाव यह होता है कि इससे जाति को मजबूती मिलती है। यह तो आसानी से समझ में आने वाली बात है कि यदि बाकी बातें समान हों तो ग्रामवासी अपने जाति भाई को ही वोट देंगे।

हरिजनों में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ सम्पूर्ण हिन्दूओं के लिए अपनी हैसियत बनाए रखना मुश्किल होता जायेगा जैसी हैसियत उनकी आज है संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार हासिल करने के लिए हरिजन लोग संगठित हो रहे हैं। हरिजनों और सवर्ण हिन्दूओं के बीच संघर्ष और इससे तत्कालीन संघर्ष बढ़ेगा। लेकिन आखिरकार सवर्ण हिन्दूओं को घुटने टेकने पर मजबूर होना ही पड़ेगा। परन्तु किसी की यह उम्मीद नही करनी चाहिए कि यह प्रक्रिया इतनी आसान जल्दी और अहिंसक होगी।

सम्भवतः किसी स्थान पर एक कारखाने की स्थापना से उस स्थान पर अन्तर्जातीय सम्बन्धों में जितना सुधार होगा उतना अन्तर्जातीय विवाह या भोज के प्रचार पर समान राशि खर्च करने से भी नही हो सकता। श्रम का मशीनीकरण और सभी स्थानों पर भूमिगत निकास स्थानों से गन्दी और दूषित समझे जाने वाली चीजों की सफाई के लिए लोगों की जरूरत नही रह जायेगी। नई शिक्षा से उन उंगलियों में जो कलम के अतिरिक्त और काम भी

करती है। शारीरिक श्रम के प्रति न केवल प्रेम, बल्कि सम्मान की भावना भी जागेगी। शहरी जीवन की विविधता और आदतें अन्तर्जातीय तनावों को कम करने में मदद करेगी।

व्यस्क मताधिकार औद्योगिक क्रान्ति – जिसे हमारी पंचवर्षीय योजना लाना चाहती है। साक्षरता तथा निचली जातियों में उच्चतर शिक्षा का प्रसार, हरिजनों को दिए गए कानूनी अधिकार, पिछड़ी जाति को दी गई सुविधाएँ और उनकी जीवन शैली का अधिकाधिक संस्कृतिकरण धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था के घिनौने रूप को मिटा देंगे। इस दौरान यदि समाजसुधारक लोग और ज्यादा अध्ययन करें एवं महसूस करें कि कड़ी मेहनत, धैर्य और विनोद की भावना जाति जैसी शक्तिशाली से जूझने के लिए कुछ अनिवार्य तथ्य हों तो बेहतर होगा। लेकिन यह कार्य लौकिकीय ढंग से ही संभव है। भारत में विकास का नेतृत्व विभिन्न क्षेत्रों में जातियों ने किया है।

प्रो0 श्रीनिवास दक्षिण भारत के संदर्भ में लिखते है कि दक्षिण भारत के शहरीकरण में जाति भी एक घटक है। पैतृक गाँव को छोड़कर शहरों की ओर जाने वालों का ब्राह्मणों ने नेतृत्व किया। उन्होंने ही पहली बार पश्चिमी शिक्षा के फायदों को समझा और जिसके बेटे गाँव छोड़कर शहर आए, वही पहले शिक्षक, अधिकारी, वकील, डॉक्टर और जज बने। सामाजिक व्यवस्था में उनकी स्थिति बहुत प्रभावशाली हो गयी थी। महत्वपूर्ण पदों पर ब्राह्मणों का वास्तविक एकाधिकार और पिछड़ी जातियों के गैर-ब्राह्मणों को प्राथमिकता देने की अंग्रेजों की नीति ने जल्दी ही एक लोकप्रिय गैर-ब्राह्मण आन्दोलन को जन्म दिया।

गैर-ब्राह्मण आन्दोलन और चौथे दशक की मन्दी ने दक्षिण और ग्रामीण क्षेत्रों से बड़े शहरों में ब्राह्मणों के आव्रजन को बढ़ाया। (श्रीनिवास, 2000)

भारतीय समाज में जाति और राजनीति पर टिप्पणी करते हुए श्रीनिवास कहते हैं कि आधुनिक भारत में जातिगत चेतना और संगठन बढ़ा है। उदाहरण के लिए भारतीय शहरों में ढेरों बैंकों की स्थापना, छात्रावास, सहकारी समितियाँ, दान, विवाह, गृह, सम्मेलन और पत्रिकाएँ इसका सुबूत पेश करती है। यदि प्रशासन में जाति की भूमिका का अध्ययन करना चाहें तो उसे एक बार मैसूर राज्य पधारना चाहिए। प्रशासनिक पदों पर लोगों का चयन और पदोन्नतियों में लगता है जाति का सबसे ज्यादा ध्यान रखा जाता है जबकि उसकी योग्यता को कम महत्वपूर्ण समझा जाता है। पिछले चार दशकों या उससे भी अधिक रूप से इस सिद्धांत का नियमपूर्वक पालन होने से कार्यक्षमता और ईमानदारी में धीरे-धीरे कमी आई है।

अनेक वर्गों का पिछड़े वर्ग में शामिल होने के लिए तीव्र संघर्ष छिड़ गया है क्योंकि नौकरियों और शैक्षणिक संस्थानों में कुछ निश्चित प्रतिशत सीटों 'पिछड़ी जातियों' के लिए आरक्षित कर दी गई है। यह आरक्षण अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण के अतिरिक्त है।

जब कोई जाति आर्थिक या राजनीतिक शक्ति पर विश्वास रखती है और श्रेणी क्रम में काफी ऊँचा स्थान रखती है तो वह जाति प्रमुख जाति बन जाती है।

भारत के अनेक भागों में प्रमुख जातियों के अस्तित्व के तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी हो गया है कि हम इस परिघटना को समझने की कोशिश करें। मैसूर के लिंगायत और औक्कालिंगा, आन्ध्र के रेड्डी और कम्मा, तमिलनाडु के गाउन्दर, पदापाची और मुदालियार, केरल के नायर, महाराष्ट्र के मराठा, गुजरात के पाटीदार और उत्तरी भारत के गूजर, राजपूत, जाट, और अहीर ये प्रमुख जातियों की मिसाल है। व्यस्क मताधिकार लागू होने

के बाद से संख्या का महत्व बहुत बढ़ गया है और प्रमुख जातियों के नेता राजनीतिक पार्टियों को वोट दिलाने में मदद करते हैं। भारत के अनेक भागों में कुछ जातियाँ निर्णायक रूप से प्रभुत्व रखती हैं।

प्रभुत्वशाली जातियों के नेता चालाक और चतुर होते हैं। वे राजनीतिक शक्ति और आर्थिक अवसरों से परिचित होते हैं। उनके पास कुछ पैसे भी होते हैं और वे स्थानीय रूप से पहुँच भी रखते हैं। स्वाधीनता के बाद से उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी उद्यमशीलता जाहिर की है। उनहोंने बस सेवाएं, चावल और आटा मिलें, तथा कपड़ा और अन्य वस्तुओं की दुकानें खोली। सरकार के लिए ठेके का काम किया और शहरों में किराए के लिए मकान बनाए उनमें से कुछ ज्यादा सहासी लोग सक्रिय राजनीति में उतर गये।

आमतौर पर पहली बार ब्राह्मणों, बनियों और कायस्थ ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की और यही समूह आज भी शिक्षा के महत्व को अन्यों से कहीं ज्यादा समझते हैं। इन जातियों के पारम्परिक मूल्य शिक्षा के पक्षधर हैं। कोई गरीब ब्राह्मण या कायस्थ पिता अपने बेटो को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए अपना छोटा सा मकान या कुछ एकड़ भूमि भी गिरवी रख सकता है। जबकि एक धनी किसान अपने बेटे को कॉलिज से रोक सकता है क्योंकि उसे पुश्तैनी जमीन की देखभाल में मदद के लिए उसकी जरूरत होगी।

प्रभुत्वशाली जाति अपने को पिछड़े वर्ग के होने की घोषणा कर उसकी सुविधाओं से ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाने के लिए जी तोड़ कोशिश कर रही है। निचली जातियां और हरिजन समय के साथ-साथ इन सारी परिस्थितियों को समझने लगी है। यह महसूस करने लगे हैं कि पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित नौकरियों, छात्रवृत्तियों, सीटों और निःशुल्क शिक्षा का फायदा उठा गया।

इस प्रकार एक ग्रामीण नाई जब शहर जा बसता है तो वहाँ एक "हेयर कटिंग सैलून" खोल लेता है। धोबी लांड्री चलाने लगता है, माली बगीचों में काम करता है, चमार जूते की दुकानों में काम करता है और ब्राह्मण रसोईये, शिक्षक और वकील बन जाते हैं। जब एक व्यक्ति कोई धन्धा अपनाता है और उसका यह धन्धा तथा परम्पारिक धन्धा अगर समान नही तो कम से कम मिलते-जुलते होते हैं। साथ ही वह ऐसी जगह रहता है जहाँ उसके जात भाई रहते है। तब इसका मतलब है कि वह अपनी जातिगत ऊँच-नीच की भावना अपने गाँव से शहर तक साथ लेकर ही जाता है। (अक्सर हमारे शहर केवल जनसंख्याकीय दृष्टि से ही शहर होते है। सामाजिक दृष्टि से नहीं) यह खासकर गरीब जनता और छोटे शहरों के बारे में शूच्य है। शहरों के आवासीय क्षेत्रों का अपना वर्ग मूल्य बन गया है और हमेशा की तरह आवासीय क्षेत्रों में कुछ हद तक जाति एवं प्रान्तीय समूहों का सम्बन्ध उन आवासीय क्षेत्रों से बन गया। जातियों में कबूतरखाने की तरह बँटने की प्रवृत्ति होती है। या सामान्य अर्थो में कहना चाहिए कि वर्गो में विभाजित होने की प्रवृत्ति होती है।

शहरों के लोग जाति-मूल्य और प्रवृत्तियाँ बनाए रखते है। बस्तियों की शैली से ही किसी शहरी इलाके और इसकी जाति तथा वर्गीय चरित्र की पहचान सम्भव हो जाती है। हमारी शहरी जनता जातिगत श्रेणियों की दुनिया में ही जी रही है। जबकि आमधारणा है कि शहरी रोजगार छोटे परिवार और गन्दगियों के मुक्त होने के कारण लोग काफी 'उन्मुक्त' जीवन व्यतीत करते है। यह धारणा शहरी लोगों को अपने ग्रामीण रिश्तेदारों के साथ गहरे सम्बन्धों को भी मद्देनजर नही रखती।

भारतीय औद्योगिक जीवन की एक विशेषता है जो जाति और वर्ग के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को उजागर करती है। कारखानों के विशिष्ट कार्यों पर

एक जाति या क्षेत्रीय समूह का एकाधिकार बन जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। संभवतः 'कार्यशाला समानता' की बात की जा सकती है। इस प्रकार बड़ौदा के एक कारखाने में उ० प्र०, मराठी, गैर-ब्राह्मण और निचली जाति के गुजराती सभी अलग-अलग विशिष्ट कार्यशालाओं में समान कार्य करना चाहते है जबकि गुजराती पाटीदार और ऊँची जातियों के मराठी ऊँचे ओहदेवाली नौकरियों में भारी संख्या में मौजूद थे।

भारतीय जीवन में रिश्तेदारी का एक महत्वपूर्ण स्थान है और यह मूल परिवार के दायरों से बहार तक फैली होती है। अभी भी भारतीय नैतिकता मौटे तौर पर जाति और श्तिेदारी के दायित्वों और धार्मिक सम्बन्धों पर ही आधारित है। रिश्तेदारी का दायित्व इतना कठिन है कि यह नागरिक नैतिकता पर भी हावी होने की प्रवृत्ति रखती है। रिश्तेदारी के प्रति निष्ठा से वर्गीय और जातिगत भेदभाव की भावना बढ़ती है। भारत में भाई-भतीजावाद की प्रवृत्ति इसका सशक्त उदाहरण है।

भारत में राजनीतिक अभिजनों का उदय व पश्चिमीकृत मध्य वर्ग का विकास साथ-साथ हुआ। यह उदय उच्च जातियों में शिक्षा का प्रसार के फलस्वरूप हुआ। अभिजन स्थितियों में जिन उच्च जातियों का प्रभुत्व था वे भी ब्राह्मण (गुजरात में नागर, एवं अनाविल ब्राह्मण, महाराष्ट्र में चितपावन ब्राह्मण, उत्तर में कश्मीरी ब्राह्मण, पूर्वी भारत में बंगाली ब्राह्मण और दक्षिण भारत में ब्राह्मणों की विभिन्न उप-जातियाँ) कायस्थ, पारसी, बनिया तथा अन्य मुसलिम उपजातियाँ व्यवसायिक सन्दर्भ में राजनीतिक अभिजनों की आरम्भिक सामाजिक सरंचना में वकील प्रमुख थे।

जैसे-जैसे राजनीतिक आन्दोलन मजबूत हुआ भू-स्वामी कूलीन वर्ग अलग-अलग पड़ता गया और राजनीतिक अभिजन की भूमिका शिक्षित मध्यम वर्गो तथा व्यवसायिक समूहों में चली गई। व्यवसायिक अभिजनों का महत्वपूर्ण

भाग उचित नही हो पाया क्योंकि औद्योगिकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो रही थी। बौद्धिक एवं राजनीतिक अभिजनों के स्तर एक उपसंरचना में विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार के अभिजन का विकास पारम्परिक अभिजनों की सामन्ती राजवंशीय चरित्र में संरचनात्मक रूप से भिन्न था। नये अभिजन उनके व्यवसायिक उपलब्धियों तथा आधुनिक शिक्षा के आधार पर उदित हुए थे। नए अभिजनों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा समान्वाद के खिलाफ था और सामाजिक तथा आर्थिक सुधार चाहता था। जिस सामाजिक आधार से अभिजन भर्ती हो रहे थे, वह छोटा सा ही रहा तथा भर्ती उच्च जातियों तक सीमित रही। अभिजन भूमिका में ब्राह्मणों की प्रमुखता के महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय परिणाम थे। यह पाश्चात्य मूल्यों के सामाजिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुकूलन में मंदन (Mediation) का तत्व लाया, इसमें करिश्माई अभिजनों हेतु पारम्परिक लालच बनाये रखा करिश्माई अभिजन संरचनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा भी अनुकूलित (conditioned) हुए।

नया अविजन अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण, सामाजिक सुधारों, समानवतावाद की नीति, सामाजिक न्याय, सार्वभौमिक नागरिक अधिकार, जातिगत बाधाओं की समाप्ति तथा महिलाओं व पिछड़े वर्गो के कल्याण एवं समान अधिकार के पक्ष में था। ये नीतिगत अध्ययन सीमित रूप से एक ऐसी मूल्य व्यवस्था का निर्माण करते हैं जो कि सोपानक्रम, समग्रवाद एवं निरन्तरता की पारम्परिक भारतीय मूल्यों से काफी दूर है। यह आधुनिकीकृत पाश्चात्य विश्व दर्शन के नजदीक आती है। इसके साथ ही ये अभिजन भारतीय परम्परा से चमत्कृत भी थे और इसे आवश्यक रूप से संरक्षित करना चाहते थे।

संरचनात्मक दृष्टि से नया अभिजन मध्यम वर्ग से था और विभिन्न व्यवसायिक समूहों से सम्बन्धित था और इसका मुख्यत: नगरीय आधार था।

इनका सामाजिक प्रभाव सामाजिक संरचना की सर्वोच्च स्थिति। जहाँ पर अभिजन स्थित होते हैं से नीचे की ओर होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात अभिजन संरचना का स्वरूप और बदला। राजनैतिक एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों, जो स्वतन्त्रता के पूर्व बहुल (diffused) तथा आदर्शवादी (idealistic) थे, जो विशेष लक्ष्यों में क्रियान्वित करना था तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को संसदीय लोकतांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत दल आन्दोलनों (Party Movements) की प्रभावशाली व्यवस्था में परिवर्तित करना था इसमें अभिजन जनता के सम्बन्धों को बदल दिया जो कि अब राजनीतिक दलों के भीतर एवं बाहर हित-समूहों द्वारा ठोस रूप से प्रभुताग्रस्त (Materially dominated) थे। क्योंकि भारत में एक सशक्त विरोधी दल नही विकसित हो पाया।

अभिजनों की रूचियों तथा निष्ठाओं के अभिमुख से, विशेषतः राजनैतिक, अभिजनों में, एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। राजनैतिक अभिजन अब क्षेत्रीय हित समूहों के मूल्यों तथा आकांक्षाओं के प्रति अधिक झुक जाते है तथा उनको मुखरित भी करते हैं उदीयमान नए राजनैतिक अभिजनों की चेतना में स्वतन्त्रता पूर्व के दिनों के बहुल विचारधारात्मक अभिमुख (diffused ideological orientation) का अभाव बढ़ रहा है। तथापि यह भारत में राजनैतिक जीवन की सामान्य वास्तविकताओं को प्रतिबिम्बित करता है जिसे माइनर वियर अभाव की राजनीति (Politics of scarcity) कहते है। जैसे-जैसे भारतीय मिट्टी में लोकतांत्रिक प्रक्रिया जड़ें जमाती जायेंगी, क्षेत्रीय हित समूहों की लामबन्दी होना एक सामान्य प्रक्रिया है और राजनीतिक अभिजन को इन शक्तियों का ध्यान रखना होगा।

स्वतन्त्रता के बाद से भारत में अभिजनों की भर्ती के सामाजिक एवं आर्थिक आधार बड़े हो गए हैं। इस भूमिका संरचना पर उच्च जातियों तथा मध्य वर्गों का पूर्ववर्ती एकाधिकार कुछ हद तक टूटा है।

यह आश्चर्यजनक नही है कि कृषक समूहों का भर्ती में हिस्सा उनकी जनसंख्या के अनुपात में नही है। इसकी व्याख्या के स्वाभाविक कारण है। उदाहरण के लिए शैक्षणिक पिछड़ापन निर्धनता एवं अवसरों का अभाव। परन्तु यह बहुत महत्वपूर्ण है कि पेशेवर समूहों के भीतर जहाँ से अधिकांश प्रशासनन्त्रीय अभिजनों की भर्ती होती है कम आय वाले परिवारों का हिस्सा बढ़ रहा है।

एक उदीयमान उद्यमी वर्ग तथा व्यवसायिक अभिजन, फैक्ट्रियों में औद्योगिक कामगारों की बढ़ती संख्या, नगरोन्मुख जनसंख्या का प्रवास तथा नगरों का विस्तार वृहत-संरचनात्मक प्रघटना के अन्य स्वरूप है। जो भारतीय समाज के आधुनिकीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे रहे है। ये संरचनाएँ सामूहिक रूप से औद्योगिकरण एवं आर्थिक वृद्धि की प्रक्रियाओं के प्रति केन्द्रीय है। किसी भी परम्परागत समाज में इन वृहत संरचनाओं में किस हद तक वृद्धि हुई है। (सिंह, 2002)

स्वतन्त्रता के बाद से राष्ट्रीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया में लोगों की सक्रिय भागीदारी ने उनको अनेक राजनैतिक संरचनाओं अथवा राजनैतिक दलों के सक्रियकरण (Mobilization) के माध्यम से मुखरित किया है। ये अनेक राजनैतिक संरचनाएं अथवा राजनैतिक दल भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण की वृहत संरचनाओं के नए स्वरूप के तौर पर उभरे है। इनका महत्व प्रत्यक्ष सामाजिक संरचनात्मक है क्योंकि इतनी प्रतिबद्धता प्राथमिक रूप से शक्ति के स्रोतों तक वैध पहुंच की है।

शक्ति के सन्दर्भ में लोकतांत्रिक राजनैतिक ढांचा इस प्रकार की भूमिका-संरचनाओं को आमूल-चूल तरीके से परिवर्तित कर देता है। शक्ति का अब बन्द सोपान क्रमिक चरित्र नही रहता। राजनीतिक क्रिया का क्षेत्र जनसहभागिता के स्तर पर विस्तृत हो जाता है और लोगों की इच्छाओं के प्रति

जो विभिन्न हित-समूहों के द्वारा मुखरित होती है। उत्तरदायी होने लगती है। यदि हम भारतीय समाज में इस सन्दर्भ में परिधि (Frame of reference) में लोकतांत्रिक प्रघटनाओं का मूल्यांकन करे तो हम दो प्रघटनाओं से प्रभावित होते है जोकि कुछ हद तक प्रभावी विरोधाभाषी होते है। प्रथम राजनैतिक सहभागिता में जनसंचार में वृद्धि तथा जाति समिति जनजातीय समूहों भाषीय तथा नेतृत्व समुदायों जैसी पहले विद्यमान संस्थापक मीडिया के माध्यम से समूह हितों का मुखरण (ariculation) द्वितीय राजनैतिक नवाचारों में से अधिकांश का निरन्तर अभिजनवादी चरित्र। वस्तुत: भारत में विशेष प्रकार के लोकतांत्रिक ढाँचे का चयन अपने आप में जन इच्छा के स्थान पर अभिजन चयन का परिणाम है। यदि भारतीय अभिजन ने भारत में लोकतंत्र का कोई अन्य प्रारूप वर्तमान प्रारूप के स्थान पर चुन लिया होता तो वही प्रारूप चलता।

2.3 आधुनिक भारत में जाति एवं राजनीति:

स्वतन्त्रता के बाद से राजनीतिक प्रवृत्तियां अधिकांशत: क्षेत्रीय हित समूहों द्वारा मुखरित माँगों के साथ समाधानों की एक श्रंखला (a series of reconciliation) रही है। राजनैतिक क्षेत्र में राज्यों का भाषीय आधार पर गठन, आर्थिक नीति के क्षेत्र में मिश्रित अर्थव्यवस्था पर जोर धर्म एवं संस्कृति में लौकिकवाद (धर्म निरपेक्षवाद) की विचारधारा तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में तटस्थता ये सभी भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रमुखत: समाजवादकारी प्रतिमान (Reconciliatory Pattern) के बिम्ब ही राजनीति में पारस्परिक संस्थाओं की भूमिका के मामले में भी यही प्रतिमान खरा उतरता है। जाति समतियों नातेदारी समूहों, भूमिका के मामले में भी यही प्रतिमान खरा उत्तरता है। जाति समितियों नातेदारी समूहों, तथा नेतृत्व एकता वाले समूहों ने जैसा की प्रमाण बताते है अपने आप को काफी हद तक बहुत कम विकृतियों के

सफलतापर्वूक, आधुनिक लोकतांत्रिक, राजनैतिक संरचना की आवश्यकता के अनुकूल ढाल लिया है। (Fierd W. Riggs 126-127)

तथापि कुछ कुसामंजस्य (Some Maladjustments) विशेषता: वे जो कि नये प्रतिरोध आन्दोलनों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक है परन्तु अभी तक भारतीय राजनीति के समाधानकारी अभिमुखन व्यवस्था को कोई क्षति पहुँचाए बिना अपने झटकों को झेलने में सफल रहे है। यदि भारतीय संस्थाओं के प्राकृतिक लचीलेपन तथा भारत की सांस्कृतिक परम्परा में सहिष्णुता की अंतर्निहित प्रवृत्ति को स्थिर मान लिया जाए तो हम मान सकते हैं कि भविष्य में जब भी राजनैतिक प्रतिरोध आन्दोलन राजनैतिक संरचना को खतरे का अंदेशा देंगे समाधानकारी अभिमुखन हर बार विजय होंगे। इस कारण भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण की गति धीमी हो सकती है। (सिंह 2006)

जाति के किसी भी विश्लेषण में यह आवश्यक है कि इसके सैद्धान्तिक सवर्णो तथा इसकी अस्तित्वात्मक (यथार्थवादी) प्रक्रियाओं (existential processes) के मध्य भेद किया जाए। सैद्धान्तिक रूप से जाति व्यवस्था की जड़ें चार जाति सवर्णों में समाज के वर्ग विभाजन में गढ़ी हुई है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र तथा अछूतों का पांचवां संवर्ग जिसे कि जाति की संदर्भ परिधि से बाहर रखा गया है तो भी यह सामाजिक एवं कर्मकाण्डीय सोपानक्रम (Hierarchy) में इसका निम्नतम स्तृत है।

अत: भारत में जाति के संरचनात्मक विश्लेषण को इस बात पर ध्यान देना होगा कि विभिन्न क्षेत्रीय स्थितियों में जातियां एवं उपजातियां इन दो बातों का निर्वाह अथवा उनसे विचलन किस प्रकार करती है? प्रथम गतिविधियों का उनके पारम्परिक रूप से स्थापित प्रतिमान, एवं द्वितीय अपना परम्परागत व्यवसाय

छोड़ चुकी है तथा अपने आपको परम्परात्मक व्यावसायिक कर्तव्यों से अलग कर सकती है। उदाहरण के लिए जजमानी सम्बन्धों को। परिवर्तनों का दूसरा संवर्ग उन प्रक्रियाओं को शामिल करेगा जो अन्तर्जातीय सम्बन्धों के स्थापित प्रतिमान को खण्डित करने की आशंका खड़ी करती है। और इस प्रकार व्यवस्था की निरन्तरता के लिए भी खतरा खड़ा करती है। तथापि इस प्रकार के परिवर्तन बहुत कम हैं। परन्तु उभर रहे है।

संरचनात्मक परिवर्तन जाति के भीतर विभिन्न प्रकार्यात्मक विभेदीकरण को भी शामिल करेंगे। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें जातिगत गतिविधियों का क्षेत्र संकुचित होने के बजाय धीरे-धीरे विस्तृत हो रहा है। इस प्रकार के परिवर्तनों के उदाहरण है जब जाति समूह राजनैतिक समितियों, आर्थिक हित-समूहों अथवा वर्गों के तौर पर प्रकार्य करते है। परिवर्तनों के ये स्वरूप स्वतन्त्रता के बाद बहुधा घटने लगे है तथा जाति के संरचनात्मक विश्लेषण हेतु एक नया स्थान प्रस्तुत करते हैं।

संरचनात्मक लक्षण दो है - प्रथम, सामाजिक अतः क्रिया के क्षेत्रों का सीमांकन एवं द्वितीय शक्ति का असमान वितरण।

जाति-व्यवस्था में परिवर्तनों का इतिहास इस बात का समर्थन करता है। यदि कोई जाति, सौभाग्य से अथवा राजनीतिक शक्ति संरचना में परिवर्तन या स्वयं अपने श्रम अथवा उद्यमिता के कारण अपने अवसरों को आर्थिक रूप से (प्रायः राजनैतिक) बेहतर कर सकी तो उसने जातिगत सोपानक्रम में उच्चतर स्थिति के लिए दावा प्रस्तुत किया जिसमें प्रायः सफल रही। ऐसे परिवर्तन वैदिक काल से हो रहे हैं। पन्निकर लिखते है कि "वैदिक काल से भी ऐसे असंख्य उदाहरण है जहाँ मनुष्य जातिगत समाज के निम्नतम दर्जे में पैदा हुआ

और उन्होंने उन व्यवसायों को अपनाया जिन पर सिद्धान्ततः अन्य जातियों का एकाधिकार था।"

आज जैसे-जैसे ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों की व्यवस्था में औपचारिक बंद प्रकृति को लोकतंत्रकरण व राजनैतिकरण, तथा भूमि सुधारों तथा गाँव के विकास के कार्यो एवं शहरों में औद्योगिकरण के माध्यम से खोला जा रहा है। जातियों की शक्ति की पूर्ववत् रूपरेखा भी बदल रही है। भारत में जाति की व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन का यह संभावित क्षेत्र है। ग्राम स्तर (पंचायत) से राज्य व राष्ट्र तक राजनैतिक संरचना के लोकतंत्रीकरण क्षेत्र है। ग्राम स्तर (पंचायत) से राज्य व राष्ट्र तक राजनैतिक संरचना के लोकतांत्रीकरण के माध्यम से सार्वभौमिक मतदान प्रक्रिया की शुरूआत ने जाति के प्रकार्यात्मक विभेदीकरण में एक नया आयाम जोड़ा है।

"वर्तमान में जातियों के मध्य दर्जे (Rank) तथा व्यक्तियों के मध्य प्रतिष्ठा के लिए घनघोर प्रतियोगिता है। यह प्रतियोगिता वर्तमान में कर समाहर्ताओं (Tax Collectors) के रूप में भू-सम्पत्ति के हट जाने से तथा ग्रामीणों के गाँव पंचायत तथा पंचायती अदालत में काम करने के लिए निर्वाचन से तीव्र हुई है।" (Mokin Marriott, 1980 (Social Structure Change in U.P. Village)

समाज वैज्ञानिक ने यह भी पाया है कि जाति समितियाँ अब भारत में राजनैतिक प्रक्रियाओं में व्यापक एवं महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। और विशेषतः विधानसभाओं के जिला निकायों के चुनाव में तथा सरकार द्वारा संचालित संस्थओं में पदों के वितरण के मामले में यह बात बढ़ती ही जा रही है। गुजरात, उड़ीसा, महाराष्ट्र, मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, बिहार एवं यू०पी० में उभरती जाति चेतना तथा इसके नए संगठनों तथा प्रकार्यो की समीक्षा में

श्रीनिवास ने निष्कर्ष निकाला है कि आधुनिकीकरण के साथ जाति की शक्तियाँ कमजोर होने के स्थान पर ओर अधिक सशक्त हो रही है।

सम्पूर्ण भारत में सड़क निर्माण, रेलों, डाक, तार, सस्ता कागज, तथा छपाई का आरम्भ विशेषत: क्षेत्रीय भाषा में जातियों को इस प्रकार संगठित होने योग्य बनाया। जिस तरह से पहले वे संगठित नही हुई थी। एक पोस्टकार्ड जाति की बैठक का समाचार ले जाता था। दूरदराज के गांवों में बिखरे हुए सदस्यों को आवश्यकता पड़ने पर एकत्रित होने में रेल ने सहायता दी जबकि जाति की पत्रिकाओं को एकत्रित करने में सस्ते अखबारी कागज के कारण सहूलियत हुई। इन पत्रिकाओं का उद्देश्य अपनी-अपनी जातियों के हितों का संवर्धन था। यह बताना एक आम बात है कि रेलों तथा फैक्ट्रियों ने खाने-पीने तथा सम्पर्क के अन्य स्वरूपों के बारे में अशुद्धि (Pollution) के नियमों को ढीला किया। परन्तु यह कहानी का केवल एक पक्ष है। सस्ते कागज की उपलब्धता ने जातिगत झगड़ों को आलेखित करने की सहूलियत दी। और इसने नियमों तथा पूर्व उदाहरणों को स्थायी स्वरूप दिया जोकि तब तक बुजुर्गो की अविश्वसनीय अत: चुनौती देने योग्य याददाश्त पर निर्भर है। Srinivas, "Caste in Modern India", e.d Myron Winer, The Civilziation of India, Vol. II, (Chicago, Illonis : The University of Chicago Press, 1961),p. 194.

अन्य शक्तियाँ जो जाति का लचीलापन दर्शाती है। उसमें श्रीनिवास मद्रास के बढ़ते हुए ब्राह्मण-विरोध की चर्चा करते है जो कि डी०एम०के० आन्दोलन में निम्न जातियों के ध्रुवीकरण के लिए एक तर्क प्रदान करते है। महाराष्ट्र में राजनीतिक समूहों के रूप में महारों और मराठों का उदय (जिसमें ब्राह्मण विरोधवाद की प्रतिध्वनी थी) आन्ध्र में कामा तथा रेड्डी में प्रतिद्वंदिता पहले तो ऐकता करके ब्राह्मणों को शक्ति से हटा दिया और उसके बाद शक्ति का अधिक लाभ उठाने के लिए स्वयं उप-विभक्त हो गए। मैसूर में

जातियों के राजनीतिकरण के लिए ब्राह्मण – विरोधाभास ने उत्प्रेरक का कार्य किया है और जाति को सरकारी पदों पर नियुक्ति तथा मैडिकल तथा इंजीनियरिंग कॉलेजों में सीटें देने के लिए एक कारक के रूप में माना गया है। तथापि यह भारत सरकार की सहमति के बिना अर्जित नही हो सकता था। भारत सरकार ने नौकरियों तथा शिक्षण संस्थाओं में पिछड़े वर्गो तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति के सदस्यों को प्राथमिकता देने के लिए 1951 में संविधान में संशोधन किया। शक्ति के लिए बिहार में राजपूत-भूमिहार प्रतिद्वंदिता तथा यू०पी० में शोषित संघ के अनुसूचित जाति आन्दोलनों को भी श्रीनिवास ने बताया है जो कि लौकिक उद्देश्यों को पाने के लिए जातियों की बढ़ती हुई लामबन्दी से सम्बन्धित थे।

श्रीनिवास द्वारा चर्चित समान प्रक्रियाओं के बारे में लॉयड आई० रूडॉल्फ तथा सूजन हॉवर रडॉल्फ ने भी बताया है। उन्होंने भारतीय राजनैतिक प्रक्रिया में जाति की बदलती हुई भूमिका पर जोर दिया है जो कि उनके अनुसार एक समिति से मिलती-जुलती है। उनकी मान्यतानुसार **जाति समितियों की कार्यप्रणाली यूरोपीय और अमेरिकी राजनीति में सुपरिचित स्वयंसेवी समितियों तथा हित समूहों से बहुत मिलती-जुलती है। इस सन्दर्भ में जाति समिति उस तरह की इस अर्थ में स्वाभाविक समिति नही रही जिस तरह की जाति थी और है। इसने स्वयंसेवी अथवा स्वैच्छिक समिति की विशेषताएँ ग्रहण करनी शुरू कर दी है। जाति समितियों में सदस्यता विशुद्ध तथा प्रदत्त नही है। सदस्यता हेतु जाति में जन्म एक आवश्यक दशा है। परन्तु पर्याप्त दशा नही है।** किसी को (राजपूत) क्षत्रिय महासभा (जाट) किसान सभा में किसी चैतन्य क्रिया द्वारा शामिल होना पड़ता है। जिसमें अपना तादाम्य (identification) बनाने के लिए जाति समितियों की बैठकों में उपस्थित होने से लेकर जाति समिति के नेताओं द्वारा समर्थित

उम्मीदवारों को वोट देने और सदस्यता शुल्क भरना शामिल है। सामान्यतः जाति समिति में सम्भावित एवं वास्तविक सदस्यता है। जब जाति बात करती है तो ये पूर्ण जाति की सम्भावित सदस्यता का प्रतिनिधित्व करने की बात करती है।

लॉयड मडाल्फ ने जाति समिति की विशेषता बताते हुए कहा है कि इसमें प्रदत्त और स्वैच्छिक समूहों, दोनों के मिश्रित लक्षण होते हैं। वेबर के शब्दों में 'सामुदायिक' (Communal) तथा समिति सम्बन्धी (assocaite) सम्बन्धों और इनका परिणाम रूडॉल्फ के शब्दों में हृदय समाज (Psudow-society) का होता है। जिसका जाति की परम्परागत संस्था को प्रत्यक्ष रूप से विस्थापित किए बिना, अधिक प्रभाव होता है।

प्रदत्त तत्व दृढ़ता से इसका संकेत देता है कि एक पूर्णतया स्वैच्छिक समिति के समान बनने में जाति समिति की क्षमता की एक स्वभाविक सीमा है। यदि चाहे जहाँ तक यह अपने सदस्यों को ले जाएँ जो आमने-सामने के पारस्परिक समुदाय के संकुचित दायरे में इसके साथ तादात्म्य महसूस करते हैं यह तार्किक रूप से इन सदस्यों को प्रदत्त को प्रदत्त सीमाओं से अलग नही ले जा सकती। कोई भी व्यक्ति अपने आप को परिभाषित करने और अपना भविष्य बनाने के लिए पूर्ण रूप से सक्षम नही हो सका।

रूँडाल्फ का यह लम्बा उदाहरण इसलिए दिया गया कि उनके विचारों को अधिक स्पष्ट रूप से और इसके सभी आयामों मे प्रस्तुत किया जा सके एक बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि रूडॉल्फ द्वारा जाति समिति की सम्बद्धता पर जोर देने के बावजूद वे यह महसूस करते हैं कि जाति के राजनीतिक प्रकार्य जाति के आवश्यक तत्वों पर केवल आच्छादित अथवा थोपे हुए हैं जोकि सम्बद्धात्मक होने के साथ ही प्रकृति में सामुदायिक जाति

आधारित परिवर्तनों के बारे में उनका पूर्वाभास जो विलय के माध्यम से पूर्णतया लौकिक एकात्मक समितियों में उनके सामुदायिक चरित्र में (हमारे अनुसार वृहत संरचना के रूप में) परविर्तन होगा, यह तथ्यात्मक होने के बावजूद अटकलपच्चू अधिक है। पहली बात यह है कि अन्तर्जातीय विवाहों के माध्यम से परम्परा को छोड़कर आधुनिकता में 'शामिल' होने की घटनाएं नाममात्र की हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षित तथा व्यावसायिक वर्गो की आधुनिकता ने बार-बार अन्तर्विरोध और दुविधा के तत्व दर्शाये हैं। तथ्य यह है कि जाति समितियाँ लघु संरचना की राजनैतिक अभिव्यक्तियां है और यह सम्भावना है कि या तो वे ऐसे ही रहेंगी या उनमें और अधिक विखण्डन व उप-विभाजन होंगे परन्तु मुश्किल से वे वृहत संरचना का स्वरूप ग्रहण कर पायेंगी।

भारत में आम चुनावों में एक जाति के सामने उसी जाति का उम्मीदवार खड़ा करना राजनैतिक दलों की आम नीति है जो यह दर्शाती है कि राजनैतिक मोर्चे पर जाति एकता ही नही लाती बल्कि उसमें उप-विभाजन करने तथा गुट का गठन करने की भी प्रवृत्ति है। (Oscar Lewsis) Nicholas, "Village ;Factions and Political Parties in Rural West Bengal", Journal of Commonwealth Poltiical Studies, Vol.l II, No. 1 (November, 1963): P.N.

जाति समितियों के वृहत्-राजनीतिक संरचनाओं में विकसित होने की सम्भावना को भाषायी, नातेदारी तथा क्षेत्रीय सांस्कृतिक कारक समिति करते हैं। दोनों रूडॉल्फ इस बात को स्वीकारते हैं। जब वे यह कहते है कि "भारतीय संघीय व्यवस्था के भीतर जाति समितियों का मुख्य प्रभाव राज्य स्तर पर है। सामान्यतया जाति समितियाँ राज्य की सीमा के बाहर तक नही होती। नियमानुसार जातियों में भिन्न भाषायी-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को शामिल नही किया जाता और अधिकांश भारतीय राज्य भाषायी-सांस्कृतिक आधार पर संगठित है।" (Rudolphs Rudolph, 132)

इसमें जब हम विखण्डनों तथा शक्ति के लिए अन्तर्जातीय प्रतिद्वंदिताओं की प्रवृत्ति को जोड़ देते हैं तो जाति समितियों के राजनैतिक सहभागिता की अखिल भारतीय संस्थाओं के रूप में उबरने की सम्भावना बहुत कम होती है।

यदि जाति समितियों को हम एक अन्य दृष्टिकोण से देखें तो पाएंगे कि भारत में हाल के संवैधानिक कानूनी तथा आर्थिक सुधारों के कारण जाति समितियों के माध्यम से जनित संरचनात्मक असंगतियाँ काफी ठोस रूप से क्रियान्वित हो रही हैं। समय के अनुरूप भारत में संवैधानिक एवं सामाजिक सुधारों की प्रक्रिया बहुत कम समय में घटी है। अथवा दबी हुई है। वे ऐसी आकांक्षाओं को जन्म देती है। जिनको पूरा करने के लिए अभी तक संस्थात्मक प्रणालियां अस्तित्व में नही पाई गई। लोगों की नई सामाजिक आकांक्षाओं के उभरने में शीघ्रता इतनी है कि पश्चिम की भाँति यह उपयुक्त संस्थात्मक प्रणालियों के विकसित होने तक इंतजार नही कर सकी। अतः भारत में जाति नेतृत्व तथा भाषायी समूहों जैसी परम्परागत संस्थायें नए मूल्यों तथा आकांक्षाओं और गतिविधियों के क्षेत्रों की अभिव्यक्ति हेतु स्वाभाविक क्षेत्र प्रस्तुत करती है।

इस प्रक्रिया में विभिन्न क्षेत्रों में जातियों की संरचनात्मक संघटना तथा अर्न्तजातीय सम्बन्धों की परम्पराएँ जो इन क्षेत्रों में प्रचलित रही हैं। जाति के राजनैतिकरण में एक निर्णायक कारक के रूप में उभरी है। स्वतन्त्रता के पश्चात लागू किए गए कानूनी तथा लोकतांत्रिक अधिकार उन समूहों अथवा सामूहिकताओं को राजनैतिक शक्ति का नया स्वरूप प्रदान करते हैं जिनके पास संख्यात्मक शक्ति है कि इस शर्त को राजनैतिक रूप में लामबन्द किया जा सके जो कि सम्भव है। यदि समूह को (यथार्थवादी) स्थिति अपने आप में संयोग तथा समरूप है।

दक्षिण भारत में एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कुछ जाति आन्दोलनों की समीक्षा उजागर करती है कि बीसवीं सदी के द्वितीय चतुर्थांश तक निम्न जाति आन्दोलन ब्राह्मण-विरोधवादी तथा आर्य-विरोधवादी नही थे। उत्तर में जाति आन्दोलनों की भाँति यहाँ पर भी निम्न जातियाँ अपने आपका संस्कृतिकरण कर रही थी। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जाति प्रस्थिति के अनुकरण, मन्दिरों में प्रवेश की सुविधाओं को प्राप्त करना और उच्च जातियों के सदस्यों की तरह पोशाक पहनना तथा जीने के अधिकार प्राप्त करने का उनका निरन्तर प्रयास था।

19वीं सदी के आरम्भिक भाग में देश में सभी जगह निम्न जातियाँ संस्कृतिकरण के लिए एक दूसरे से होड़ लगाये हुए थी और स्वतन्त्रता के कुछ वर्षो बाद इस प्रवृत्ति को क्षैतिज एकता अथवा अस्मिता चेतना (identity consciousness) पर महत्व के द्वारा अधिकाधिक रूप से विस्थापित किया जा रहा है। इसका उत्तर सम्मान और शक्ति के बदलते स्रोतों में निहित है। पहले, शक्ति तथा उच्च सामाजिक प्रस्थिति तक पहुँच केवल पारम्परिक जाति सोपान क्रम के माध्यम से थी दूसरे शब्दों में राजाशाही प्रारूप कार्यरत था।

स्वतन्त्रता के पश्चात इन उच्च जातियों की सन्दर्भ समूहों के तौर पर स्थिति को एक प्रक्रिया के माध्यम से चुनौती दी गयी जिसे कार्ल मानहाईम 'मूलभूत लोकंत्रीकरण' (Fundamental democratization) कहते हैं। जातियों के मध्य इस व्यवस्था के राजनैतिक-आर्थिक पक्षों से कर्मकाण्ड को विभेदीकृत करने की प्रवृत्ति है। जाति के कर्मकाण्डीय स्तर को अभी भी सोपानक्रमी नियम के आधार पर मूल्यांकित करने की प्रवृत्ति है। कर्मकाण्डों को करने के लिए अभी भी ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है। परन्तु राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्र में सोपानक्रम के नियम को निरस्त कर दिया गया है तथा सामन्तवादी एवं प्रतियोगितावादी विचारधारायें प्रचलित हैं।

जाति में इन परिवर्तनों का परिणाम भूमिका विभेदीकरण अथवा प्रकार्यात्मक विविधीकरण है। ये व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों का पूर्वाभास दे सकते हैं। इस व्यवस्था पर समाज वैज्ञानिकों में असहमति है। ऐसा दावा किया जाता है कि जाति के राजनैतिक प्रकार्य स्वयं स्वाभावत: जाति सामाजिक संरचना के लिए अनिवार्य न हों, परन्तु इस व्यवस्था पर एक अन्य संरचना का अतिरिक्त अच्छादान है।

जब किसी क्षेत्र में जाति की राजनैतिक लामबन्दी होती है। (खण्डित समूहों तथा पार्टियों, आदि के गठन के माध्यम से) तो जाति सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। एक समान राजनैतिक अथवा आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न जातियाँ परस्पर एकीकृत हो जाती है। इस प्रकार वे एक वर्ग चरित्र को ग्रहण कर लेती है। परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन अल्पआयु के हेते हैं। इस प्रकार के लौकिक उद्देश्यों की प्राप्ति के बाद जातियाँ पुन: अपने पारस्परिक आधारभूत प्रकार्यो, वैवाहिक, खान-पान तथा कर्मकाण्डीय पर लौट आती है। जाति का स्थायित्व जिस ठोस धरातल पर टिका होता है वे ये सामाजिक प्रकार्य हैं और इस क्षेत्र में जाति कोई बहुत बड़ी हद तक परिवर्तित नही हो रही है। अन्तर्जातीय विवाहों के अध्ययन बहुत कम है।

संरचनात्मक रूप से जातियाँ 'सामुदायिक' समूहों के रूप में स्थिर बनी हुई है। तथापि उनके प्रकार्यात्मक विभेदीकरण के अन्य स्तरों पर परिवर्तन हो रहे हैं। जैसे कि हित समूहों के रूप में राजनैतिक लघु संरचनाओं के रूप में तथा आधुनिकीकरण हेतु संचार जाल के रूप में उनकी अभिव्यक्ति। जाति इन प्रकार्यो को अधिकांशत: जिन कारणों से निभाती है। वे या तो संरचनात्मक बाधाएँ है। ये प्रकार्य जाति संरचना के लिए आधारभूत न भी हों परन्तु अन्य पूर्णत विभेदीकृत स्वैच्छिक समितियों की अनुपस्थिति में ये न केवल जाति की

छाप लिए हुए होते हैं अपितु जाति की सामाजिक संरचना के माध्यम से नयी गतिविधियों को अभिव्यक्ति भी करते हैं।

जाति में संरचनात्मक परिवर्तनों को इस संस्था के निरन्तर लचीलेपन (resilence) तथा नमनीयता (Plasticity) के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। जाति ने सदियों से इसके अस्तित्व को चुनौती देने वाली शक्तियों की अवहेलना की है।

पश्चिमी सम्पर्क के प्रारम्भ से पहले लघु परम्परा तथा वृहत् परम्परा से बनी हुई भारत की पारस्परिक सांस्कृतिक संरचना में अनेक परिवर्तन हुए। हिन्दू जाति व्यवस्था के विरूद्ध प्रतिरोध आन्दोलनों (riotiest movements) के तौर पर बौद्ध धर्म व जैन धर्म उभरे। इनकी वृद्धि ने नई जाति जैसे खंडात्मक समूहों (segmentary groups) की रचना की जो कि बाद में जातियों में विकृत हो गए और बहुलवादी परम्पराओं में और अधिक योगदान दिया। इन आन्दोलनों का भारतीय समाज की राजनैतिक और आर्थिक संरचना पर भी प्रभाव पड़ा। जैन धर्म विशेषकर एक नगरीय आन्दोलन था। तथा जैन धर्म व बौद्ध धर्म दोनों के नगरीय केन्द्रों में नई व्यापारिक जातियों को जन्म दिया। अंत जनहित आन्दोलन में भी उत्तर में सिख धर्म के आधार बनाए। उत्तर व दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलनों ने आधार बनाये। ब्रिटिश राज में आर्य समाज व ब्रह्म समाज ने आधार बनाए और अंततः समकालीन समाज में गाँधीवादी आन्दोलन ने आधार बनाया जो भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता में परीणित हुआ। उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलनों के आंशिक अपवाद को छोड़कर जिसने सामन्तवादी मूल्य प्रस्तुत किए तथा हिन्दू व मुस्लिम परम्पराओं के मध्य समन्वय का प्रयास किया। अन्य सभी आन्दोलनों या तो छूट कर अलग होने की प्रक्रियाएं थी ताकि समयान्तर वृहत प्रक्रियाएँ स्थापित की जा सकें या उन्होंने हिन्दू धर्म की स्थापित वृहत्त परम्पराओं को दोहराया।

इस प्रकार जो परिवर्तन हुए वे पारम्परिक सामाजिक संरचना एवं मूल्यों के भीतर विभेदीकरण तक सीमित थे : संरचनात्मक परिवर्तन बहुत कम हुए, और जो हुए वे भूमिकाओं (Pairty roles) तथा मठवादी संगठनों (Monalstic Organizations) की बात की जा सकती है। अन्य परम्पराओं के उदय के बाद इन परिवर्तनों को किसी प्रकार से संरचनात्मक नही कहा जा सकता क्योंकि भूमिकाओं का विभेदीकरण खण्डात्मक था और इन्होंने सम्पूर्ण व्यवस्था को नही बदला। भूमिका विभेदीकरण का चरित्र भी अभिजनात्मक (elitist) था क्योंकि इन सभी का नेतृत्व उच्च वर्ग व जाति के सदस्य कर रहे थे। केवल कुछ भक्ति आन्दोलन अपवाद थे। परन्तु ये महत्व में नवाचारी होने के स्थान पर अपरिवर्तनीय रूप से पुनरावृत्ति करने वाले थे। इनमें से किसी का भी राजनैतिक व्यवस्था, स्तरीकरण व्यवस्था अथवा जाति व्यवस्था जिसके विरूद्ध इनका प्रसार हुआ।

भारत में मुस्लिम शासन के दौरान इस्लाम अपनाने वाले वृहत्त स्तरीय धर्म परिवर्तनों ने हिन्दू जातियों की सामाजिक, आर्थिक, तथा सांस्कृतिक गतिशीलता हेतू संरचनात्मक विचार प्रस्तुत किया ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु इसमें धर्म परिवर्तन करने वाले सीमित मात्रा में ही सफल रहे। इन धर्म परिवर्तन करने वालों से अशरफों (चार मुस्लिम प्रवासी समूह) ने प्रायः विवाह व नातेदारी सम्बन्धों के मामले में सामाजिक दूरी बनाए रखी। उन्होंने धर्म परिवर्तन करने वालों को कभी भी अपने समान नहीं माना। धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बनने वालों में भी जातिगत सोपानक्रम निरन्तर बना रहा तथा अधिकांश मामलों में पारम्परिक व्यवसायों तथा जातिगत कर्मकाण्डों को भी बनाए रखा गया।

व्यस्क मताधिकार तथा राजनैतिक संरचना के संघात्मक संसदीय स्वरूप के क्रियान्वयन ने सामाजिक संगठन के प्रत्येक क्षेत्र तक राजनैतिकीकरण को

पहुँचा दिया है। हिन्दू विवाह तथा उत्तराधिकार कानूनों में चेतन कानूनी सुधारों ने संरचना की आधारशिलाओं को गहनता से प्रभावित किया है। सामुदायिक विकास परियोजनाओं ने आधुनिकता के सांस्कृतिक मानदण्डों व भूमिका संरचनाओं को भारत के प्रत्येक गाँव तक पहुँचा दिया है और इसके बाद भूमि सुधारों तथा निर्वाचित ग्राम पंचायतों के क्रियान्वयन ने ग्रामीणों को स्थानीय स्तरीय प्रबन्धन तथा न्याय के प्रशासन में सहभागिता के नौकरशाही स्वरूप से अवगत करा दिया है। इस प्रक्रिया में जाति में भूमिकाओं का आमूलचूल रूपान्तरण हुआ है। नये प्रकार्यात्मक अनुकूलन विकसित किए हैं तथा राजनीति एवं शक्ति संरचना के लोकतंत्रीकरण द्वारा स्फूर्त आकांक्षाओं को सक्रिय कर दिया है। किस प्रकार जाति का एक सक्रिय सम्बन्धी (asscoiational) चरित्र में विकास बढ़ रहा है। इसको हम विस्तार से विश्लेषित कर चुके हैं। अब यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक जाल के रूप में कार्य करता है।

भारतीय दृश्य (The Indian Scene)

आइजनस्टाट के अनुसार भारत में आरम्भिक अवस्थाओं में भारतीय समाज की विशेष संरचनात्मक विशेषताओं के कारण आधुनिकीकरण ने कोई गम्भीर विखण्डन नहीं किया। यहां सांस्कृतिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था से काफी स्वतन्त्र थी। लुई डयूमाँ लिखते हैं : प्रभु परम्परा में यह क्षेत्र (राजनीत अथवा अर्थ) सम्पूर्ण मूल्यों (absolute values) के सम्बन्ध में सापेक्ष रूप से स्वायत्त है। राजनीतिक व्यवस्था तथा जातिगत स्तरीकरण के मध्य भी स्वतन्त्रता थी जातियों की अपनी परम्परा तथा बहुल परमपरायें थीं और इसी के समान समूहों तथा क्षेत्रीय समुदाय के लिए भी स्वायत्तता विद्यमान थी।

क्या आधुनिकता की द्वितीय अवस्था में भारतीय समाज संरचनात्मक विखण्डन को टाल पायेगा? संरचनात्मक स्वायत्ता के माध्यम से इसने जो लाभ पहले उठाए है क्या वे अब बदली हुई परिस्थितियों में आधुनिकता के आसान संस्थायीकरण में व्यवधान नहीं बन जायेंगे?

इन प्रश्नों के उत्तर में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों की महत्वपूर्ण परिवर्तनों के वस्तुपरक विश्लेषण के माध्यम से ही दिए जा सकते है जोकि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया हेतु प्रासंगिक है। सांस्कृतिक क्षेत्र में दो विधाओं ने महत्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। ये परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित सामाजिक असमानताओं तथा शोषणों को समाप्त करने तथा समाज के सभी सदस्यों की लोकतान्त्रिक एवं संवैधानिक सुविधाओं को प्रदान करने का प्रयास करते हैं। इसके कारण संस्कृतिकरण (वृहत् परम्परा का अनुकरण) से परे तथा जातियों क्षेत्रीय समूहों तथा जनजातियों की नई असमितियाँ तथा समितियाँ गठित करने की ओर एक प्रवृत्ति प्रचलित हुई है। ये प्रक्रियाएँ नगरीकरण, औद्योगिकरण शिक्षा का प्रसार तथा राजनैतिकीकरण जैसी आधुनिकीकरण की 'वृहत परम्पराओं' द्वारा तीव्र होती है। पारम्परिक संरचनाएं तथा निष्ठाएं उन उद्देश्यों के लिए सक्रियकृत हो रही है जो कि आवश्यक रूप से आधुनिक है तथा प्रतिरोध आन्दोलनों को अधिक महत्व दिया जा रहा है तथापि इस प्रक्रिया मे परम्परा को भी सम्पुष्टिकरण मिलता है। कर्मकाण्डीय व्यवस्था के प्रसार तथा धार्मिक समूहों के तार्किक संगठन एवं उनकी गतिविधियों तथा सामाजिक सहभागिता के तरीकों में संचार व यातायात के आधुनिक माध्यमों का प्रयोग बढ़ रहा है।

आधुनिकीकरण के उत्तर-औपनिवेशक अवस्था के दौरान भारत में हुए संरचनात्मक परिवर्तनों में इसी प्रकार की समान असंगतियाँ है। जाति, परिवार एवं ग्राम समुदाय जैसी लघु-संरचनाओं ने अपना पारम्परिक चरित्र बनाए रखा है। जाति ने अनपेक्षित लचीलापन तथा लोकतांत्रिक सहभागिता राजनैतिक दल

संगठन तथा ट्रेड यूनियनवाद जैसी आधुनिक संस्थाओं के साथ अनुकूल हेतू अप्रकट सभ्याव्यता दर्शायी तथा यह बिना रूके हुए स्थायी बनी हुई है।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा जनित उदीयमान तनाव हमारा ध्यान नीतिगत क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ परिवर्तन की रणनीति में अति आवश्यक और अधिक समन्वय की ओर निर्दिष्ट करते हैं। विभिन्न बिन्दुओं पर व्यवस्था में अन्तर्विरोध उभर रहे है जोकि स्वतंत्रयोत्तर काल के दौरान आधुनिकीकरण हेतू प्रारम्भ किए गए। असमन्वित संस्थापक सुधारों तथा आर्थिक उपायों का परिणाम है तथा इन अंतर्विरोधों में अभी तक दबाकर रखे गये समूहों की आकांक्षाओं व हितों की उच्चोन्मुख गतिशीलता के कारण उत्पन्न बैमनस्यों को अन्तर्निहित व प्रतीकीकृत (symbolize) भी करते है। प्रतिरोध आन्दोलन चाहे वे छिपे हुए हों (जैसे संस्कृतिकरण, इस्लामीकरण, जाति, भाषा, तथा क्षेत्रीय संस्कृति पर आधारित संकुचित समितियाँ) अथवा प्रत्यक्ष (केन्द्र-राज्य तनाव) हो आधुनिकीकरण के लोकतांत्रिक संक्रमण में अवश्यम्भावी है। यकीनन उन विशेष क्षेत्रों को बताते है। जहाँ परिवर्तन की प्रक्रिया में से वैमनस्यता को दूर करने के लिए संस्थात्मक व अन्य सुधारों की ओर अधिक त्वरित किया जा सकता है।

जाति जो परम्परा द्वारा स्वीकृत असमानता के संस्थापक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। अब समितियों में अपने स्वयं के तार्किक स्व-रूपान्तरण के द्वारा असमानता व असमानतावाद के खिलाफ लड़ाई लड़ रही है। परम्परा के अनेक स्वतन्त्र अथवा संवर्गात्मक मूल्यों (Categorical values) ने अपने आपको आधुनिकीकरण की सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रति अनुकूल बनाने के लिए आश्चर्यजनक हद तक लचीलापन दर्शाया है। इन परम्पराओं में से कुछ अभी भी फलफुल रही है। क्योंकि आधुनिकीकरण प्रक्रियाएं बिना प्रमुख अन्तर्विरोध पैदा किए तेजी से आगे बढ़ रही है। भौतिक संसाधनों के क्षेत्र में भी गाँव में

हाल कि "कृषि सम्बन्धी क्रान्ति" ने भावी प्रगति के लिए आशावादिता का एक नया वातावरण पैदा किया है। इसके साथ लोगों में जन्म दर को रोकने की बढ़ती जागरूकता बिना विखण्डन के आधुनिकीकरण के नए आशावादी इशारों की ओर इंगित कर सकती है।

जहाँ तक भारत में आधुनिकीकरण की बात है हम देखते हैं कि पारम्परिक भूमिका संरचनाओं का स्थान आधुनिक भूमिका संरचनाओं द्वारा लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। परन्तु जो लोग इन भूमिकाओं को निभा रहे हैं वे आधुनिकता के मूल्यों के स्थान पर परम्परा के सर्वगात्मक मूल्यों को प्रायः संजोए हुए हैं। हमने बताया है कि किस प्रकार स्वयं जाति अनेक प्रकार्यों को अपना रही है जोकि समुचित रूप से तार्किक निगमीय समूहों के होते ही सामान्यतः कर्मकाण्डीय व्यवस्था एवं धर्म जो कि अनिवार्यतः पारम्परिक प्रवृत्ति के संवर्गात्मक मूल्यों में से अनेक एक समाज से अन्य समाज में भिन्न होते हैं। ऐसी सदैव सम्भावना हो सकती है। जिसमें पारम्परिक तथा आधुनिक मूल्यों का अनूठा समिश्रण है। वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा संवेगात्मक मूल्यों को शायद ही असत्य सिद्ध किया जा सकता है।

सामाजिक संगठन (Social Organization)

प्रो0 कूले ने अपनी पुस्तक 'सोशल आर्गेनाइजेशन' (1969) में इस अवधारणा का प्रयोग किसी रचना के अन्योन्यारित भागों के सम्बन्धों के लिए किया। जो किसी भी स्थाई सामूहिक रचना की एक आवश्यक विशेषता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा समाज के अन्योन्याश्रित भागों को अलग-अलग रूप में देखा-समझा गया है। जैसे मूल्य, नियमाचार, विश्वास, भूमिकाओं के आपसी सम्बन्ध, किसी वृहत इकाई के उपसमूह, संस्थाएं आदि-आदि हैं। हरबर्ट स्पेन्सर ने इसका प्रयोग समाज के आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य भागों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए किया है। दुर्खाईम ने इसे सामाजिक एकीकरण,

नैतिकता एवं मूल्यों की मतैक्या द्वारा व्यक्तिगत नियमाचारों के लिए किया है। **कूले ने सामाजिक अन्तक्रिया के आवश्यक तत्वों के रूप में सहभागी क्रियाओं तथा उनके बोध को सामाजिक संगठन का नाम दिया है।** संक्षेप में, सामाजिक संगठन एक ऐसी दशा या स्थिति है जिसमें किसी समाज के विभिन्न अंग अर्थात संस्थाएं, समूह तथा समितियाँ आदि अपने स्वीकृत एवं निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार कार्य करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक समाजों के विकास ने कारखानों तथा राज्य जैसे अनेक वृहत स्तरीय संगठनों को जन्म दिया। सन् 1930 और 1940 के बीच इस क्षेत्र में कई अन्य प्रकार के अध्ययन-अनुसंधान किए गए जिनमें चेस्टर बर्नाड का 'ह्यूमन रिलेशन्स मूवमेंट' तथा फिलिप सेटजनिक का अति प्रतिष्ठित 'टेनेशी ऑथरीटी' अध्ययन विशेष उल्लेखनीय है। इन अध्ययनों ने संगठनों के विश्लेषण के द्वितीय क्षेत्र का सूत्रपात किया। इन अध्ययनों में संगठनों में होने वाली सामाजिक, प्रक्रियाओं, विशेषत: ऐसे अनौपचारिक तथा अकर्यालयी समाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया गया। जिनके कारण संगठनों के लक्ष्यों के अवरूद्ध या नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का खतरा बना रहता है। यही नही ऐसे संगठनों का भी अध्ययन किया गया जिनका स्वरूप संस्तरणात्मक की अपेक्षा सहकारी होता है। आजकल अनेक प्रकार के संगठनों के समाजशास्त्रीय अध्ययन तथा उनके सिद्धांत उपलब्ध है। इन अध्ययनों को चार वर्गों में बाँटा गया है।

- संगठन के प्रकारों का वर्णन/विश्लेषण करने वाले अध्ययन
- सामाजिक प्रणालियों के रूप में संगठनों का अध्ययन
- अनुभवजन्य संरचनाओं के रूप में संगठनों का अध्ययन
- क्रियाओं की संरचनाओं के रूप में संगठनों का अध्ययन

2.4 संगठन की अवधारणात्मक व्याख्या:

आधुनिक समाज एक संगठनात्मक समाज है। हमारे जीवन के अधिकतर कार्य संगठनों के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं। आधुनिक मनुष्य संठन में जन्म लेता है। संगठनों के द्वारा ही शिक्षित-प्रशिक्षित होता है तथा अपना अधिकांश जीवन किसी न किसी प्रकार के संगठन में बिता देता है।

इस प्रकार लगभग एक हजार वर्ष पूर्व चीन के सम्राटों ने भी अपने देश की महान सिंचाई प्रणाली का निर्माण करने के लिए विभिन्न संगठनों तथा उप-संगठनों का प्रयोग किया था। पहले की अपेक्षा आधुनिक समाज में संगठन कहीं अधिक प्रकार की सामाजिक तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वास्तव में आधुनिक सभ्य समाज में तार्किकता (Rationality) प्रभावशालीता (Effeectiveness) तथा कार्यकुशलता (Efficiency) को उच्च नैतिक मुल्य प्रदान किया जाता है। आधुनिक संगठन मानव समूहों के सबसे अधिक तार्किक तथा कार्यकुशल ऐसे स्वरूप है जिन पर आज की सभ्यता मुख्य रूप से टिकी हुई है।

संगठन की अवधारणा

प्रो० टालकैट पारसन्स के अनुसार, "संगठन वे सामाजिक इकाईयाँ है जिन्हें विशिष्ट लक्षणों की प्राप्ति हेतु जानबूझकर संरचित तथा पुनः संरचित किया जाता है।"

प्रो० कैपले (T. Capolow) के शब्दों में "संगठन एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसकी एक स्पष्ट सामूहिक पहचान होती है जिसके सदस्यों की एक निश्चित नामावली होती है।"

एट्रीजपोनी ने आधुनिक जटिल संगठनों की विस्तृत व्याख्या अपनी 'Modern Organization' तथा 'Complex Organizations' नामक प्रसिद्ध

पुस्तकों में की है। ऐट्जियोनी की संगठन की अवधारणा बहुत कुछ पारसन्स की अवधारणा से मिलती है। पारसन्स की भाँति यह भी संगठनों को ऐसे मानव समूह के रूप में देखता है। **"जो पूर्वनियोजित होते हैं तथा जिनकी संरचना कुछ सामाजिक परिस्थितियों में विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु की जाती है।"**

ऐटजियपोनी के अनुसार आधुनिक संगठनों को उनकी सामाजिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं समझा जा सकता क्येंकि प्रथम संगठनों की आन्तरिक संरचना को सम्पूर्ण सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। द्वितीय जिन विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आधुनिक संगठनों का निर्माण किया जाता है वे समाज के सामान्य लक्ष्यों, मूल्यों, विचारधाराओं, के प्रतिकूल नहीं हो सकते, तथा तृतीय आधुनिक जटिल संगठन सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के अंग होने के कारण उससे भी प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। संगठनों की प्रकृति, उनकी संरचना तथा उनके उद्देश्य सदैव ही समकालीन सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होते है। अत: आधुनिक जटिल संगठनों की समाजशास्त्रीय विवेचना भी आधुनिक जटिल समाज की प्रकृति तथा उसकी संरचना तथा उनके प्रकार्यो के आधार हो।

संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Organization)

सामाजिक व्यवस्था (Social System)–अन्त:निर्भर भूमिकाओं की व्यवस्था को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। प्रत्येक आधुनिक संगठन में भी उनके सदस्यों की भूमिकाएं यद्यपि अलग-अलग होती हैं। परन्तु उनके बीच अन्तनिर्भरता भी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त विभेदीकरण (Differentiation) समाकलन (Intergration), सन्तुलन (equilibrium) तथा सीमा (boundry) भी सामाजिक व्यवस्था के अनिवार्य लक्षण होते हैं। ये सभी लक्षण आधुनिक संगठनों में भी

दिखाई देते हैं। आधुनिक संगठनों में सदस्यों के कार्य अलग-अलग होते हैं। श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण (Specialiation) आधुनिक संगठनों की प्रमुख विशेषताएं हैं। वह अन्य संगठनों से सम्बन्धित रहते हुए भी अपनी एक अलग विशिष्ट प्रकृति रखता है।

स्पष्ट सामूहिक पहचान (Unequivocal Collective Identity)-प्रत्येक संगठन का अपना एक अलग नाम होता है जिससे वह पहचाना जाता है। किसी संगठन के नाम से ही प्रायः उसके उद्देश्यों तथा उसके सम्बन्धों के विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उसका नाम सामूहिक क्रिया को भी सरल बनाता है।

सदस्यों की निश्चित नामवाली (Exact roster of Memebrs)-प्रत्येक संगठन के सदस्यों की निश्चित नामावली होती है। अतः यह निश्चित रूप से जाना जा सकता है कि किस संगठन में कौन लोग सम्मिलित हैं। साधारणतयः प्रत्येक आधुनिक संगठन अपने सदस्यों की लिखित सूची रखता है।

निश्चित उद्देश्य तथा कार्यक्रम (Goal and Program of Activity)-संगठन की रचना निश्चित पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसका एक निश्चित कार्यक्रम भी निर्धारित रहता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक संगठन एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही कार्य करता हुआ अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

श्रम, शक्ति तथा संचार के उत्तरदायित्वों का विभाजन (Division of Labour, Power, Communciation responsibilities)-ऐट्रिजिपोनी के मतानुसार आधुनिक संगठनों में श्रम-विभाजन के साथ-साथ शक्ति तथा संचार के दायित्वों का विभाजन भी पाया जाता है। विभाजन की यह व्यवस्था परम्पराओं पर आधारित नही होती और न ही मनमाने तथा बिना सोचे, समझे,

हुए ढंग से यह विभाजन किया जाता है। आधुनिक संगठनों में श्रम-शक्ति तथा दायित्वों का विभाजन भली-भाँति सोच समझकर पूर्व नियोजित तथा तार्किक ढंग से किया जाता है जिससे कि विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति अधिक से अधिक अच्छे प्रकार से हो सके।

एक या एक से अधिक शक्ति केन्द्र (One or more power centres)

प्रत्येक आधुनिक संगठन में एक या एक से अधिक शक्ति केन्द्र होते हैं। ये शक्ति केन्द्र संगठन के सम्मिलित प्रयासों को नियमित तथा उन्हें लक्ष्यों की ओर निर्देशित करते है ये शक्ति-केन्द्र संगठन के कार्यो का निरन्तर मूल्यांकन परीक्षण आदि भी करते रहते हैं। और संगठन की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए उसकी संरचना में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करते रहते हैं।

समूह तथा संगठन (Group and Organizations)

संगठन एक सामाजिक समूह होता है परन्तु सभी सामाजिक समूह संगठन नही होते। केवल संगठित सामाजिक समूह (Organised Social Groups) को ही हम संगठन कहते है क्योंकि आवश्यक नहीं की कोई भी सामाजिक समूह संगठित हो वह असंगठित भी हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि किस सामाजिक समूह को हम संगठित कह सकते हैं? वे कौन से लक्षण हैं जिनके आधार पर कोई समूह संगठित या असंगठित कहा जा सकता है?

सामाजिक समूह (Social Group)

एकत्रित व्यक्तियों के झुण्ड को सामाजिक समूह समझ लिया जाता है। किन्तु समाज वैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक समूह से तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के एक ऐसे समुच्चय या संकलन से है जिसके सदस्यगण सामान्य हित एवं रूचियों के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने द्वारा आबद्ध होते है तथा अपनी क्रियाओं द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते तथा होते है।

सामाजिक समूह एक मानसिक घटना है। अतः इसकी रचना के लिए मनोवैज्ञानिक अन्तक्रिया होना आवश्यक है। यह अन्तक्रिया ही समूह के सदस्यों में समूह तथा इसके प्रतिकों के प्रति चेतना-भाव उत्पन्न कर एक स्थाई अस्थाई संगठन में उन्हें बाँधे रखती है। व्यक्तियों के किसी संग्रह को सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। जब उनमें स्थायी रूप में अन्तक्रियाओं का अपेक्षाकृत कोई स्थापित प्रतिमान होता है। इस दृष्टि से उपनगर के निवासियों पर मध्य वर्ग या प्रबन्धकों को सामाजिक समूह नही कहा जा सकता।

दो या उससे अधिक व्यक्तियों के उस समूह को हम "सामाजिक समूह" कहते हैं जिनके मध्य अन्तःक्रियाऐं होती है। सदस्यों के मध्य अन्तःक्रियायें होनी 'सामाजिक समूह' का एक अनिवार्य लक्षण है। ये अन्तक्रियाऐं थोडे समय तक या लम्बे समय तक चल सकती है। कोई 'सामाजिक समूह' संगठित केवल तभी होता है जब उसके सदस्यों के मध्य लम्बे समय तक अन्तःक्रियाऐं होते रहने के परिणामस्वरूप उनके पारस्परिक सम्बन्धों में निरन्तरता तथा स्थायित्व उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सदस्यों के मध्य-अन्तःक्रियाओं की पुनरावृत्ति तथा उस पुनरावृत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले सम्बन्धों का किसी न किसी मात्रा में 'स्थायित्व' 'संगठित सामाजिक समूह' का आधार होता है।

सामाजिक परिस्थिति की पुनरावृत्ति के लिए आवश्यक है कि समूह के सदस्यों की नामावली निश्चित हो। दूसरे एक निश्चित सम्पर्क-सूत्र का होना भी सामाजिक-परिस्थिति की पुनरावृत्ति के लिए आवश्यक है जिसके अनुसार सदस्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हों।

शक्ति की सामूहिक स्वीकृति उसे वैधता प्रदान करती है जो लोग यह समझते हैं कि शक्ति सम्पन्न समूह से प्राप्त होने वाले लाभ उसके आज्ञा पालन से होने वाले कष्टों से अधिक है तो वे अपने इस विचार को केवल

अपने तक ही सीमित नही रखते बल्कि अन्य व्यक्तियों को भी प्रसारित करने लगते है। और इस प्रकार जिस सामाजिक दबाव का निर्माण होता है। वह उन लोगों को भी शक्ति सम्पन्न समूह की सत्ता तथा आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देता है। इसके परिणामस्वरूप उस शक्ति सम्पन्न समूह की सत्ता और भी दृढ़ हो जाती है।

ब्लाऊ के मतानुसार वैध सत्ता (Legitimate authority) संगठन का आधार होती है। क्योंकि केवल उसके द्वारा ही विभिन्न प्रकार के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतू सामूहिक प्रयत्नों को संगठित किया जा सकता है।

प्रत्येक संगठन में सामूहिक प्रयासों का समन्वय अनिवार्य रूप से निहित रहता है वैसे तो प्रत्येक समूह में सामाजिक विनिमय तथा प्रतिस्पर्धा की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप किसी न किसी प्रकार का संगठन स्वत: विकसित हो जाता है। अत: उसमें सामूहिक क्रियाऐं किसी न किसी अंश में समन्वित हो जाती है। परन्तु जो संगठन किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्थापित किए जाते हैं उनमें उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सदस्यों की क्रियाओं को समन्वित करने की दृष्टि से कुछ सामाजिक पात्रों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार से सर्वाधिक संगठनों में विशेष रूप से बड़े संगठनों में सदस्यों की क्रियाओं को समन्वित करने के लिए किसी न किसी प्रकार के एक केन्द्रीय निर्देशन की आवश्यकता होती है। इस 'केन्द्रीय निर्देशन' का आधार 'शक्ति' होती है। अत: हम कह सकते है कि वृहत् साविधिक संगठनों में 'शक्ति' ही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की क्रियाओं को निर्देशित तथा समन्वय करना सम्भव होता है।"

2.5 भारतीय समाज में जाति एवं उसका भविष्य:

प्रो0 बोस ने खेल-सिद्धान्तों और कर्ता-केन्द्रित महत्तम वृद्धि मॉडल के आधार पर राजनीति का विशलेषण सामाजिक एकीकरण के एक साधन की अपेक्षा व्यक्तियों द्वारा शक्ति को अधिकारिक बढ़ाने के एक उपकरण के रूप में किया है। अपनी पुस्तक 'सामाजिक संगठन के प्रतिरूप' में (1966)

प्रो0 बॉस ने कहा है कि संस्कृति के समक्ष मानव पूर्णतः निष्क्रिय नही होता, वह संस्कृति में बदलाव लाने में भी सक्षम है। इतिहास के पन्ने ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े है जब किसी एक व्यक्ति या कुछ लोगों ने संस्कृति के प्रवाह को बदल दिया। फिर भी जाति-व्यवस्था के अपने अध्ययन में बोस ने मार्क्स के उत्पादन के सामाजिक संगठन के विचार को अवश्य स्वीकार किया है। जाति व्यवस्था के अनन्त काल से रहने के पीछे बोस ने इसके आर्थिक व सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करने के प्रकार्यो को प्रमुख माना है। बोस के अनुसार उत्पादन की जातीय आधार की यह व्यवस्था पूर्णतः अर्न्तप्रतिस्पर्धात्मिक, अनुवंशिक और व्यवसाय पर आधारित थी।

बॉस ने लिखा है कि यह एक ऐसा उत्पादन संगठन है जिसमें प्रतिस्पर्धा को कोई स्थान नही है। यह कृषकों, कारीगरों और यहाँ तक की सैनिकों का एक ऐसा अनुवांशिक व्यवसायिक संघ (गिल्ड) है जो एकाधिकार की भावना पर केन्द्रित होता है। इस प्रकार के प्रत्येक संघ को अपने व्यवसायिक धर्म के पालन करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाता है ताकि प्रत्येक संघ की एक दूसरे के प्रति पूरक धर्म की सेवाओं द्वारा व्यक्ति की जिन्दगी चलती रहे। व्यवसायिक (जाति) धर्म का पालन न करने पर व्यक्ति को प्रायश्चित करना पड़ता था। इस प्रकार के जाति-समूह दूर-दूर तक छितरे हुए छोटे-छोटे गाँवों में विद्यमान थे।

बोस कहते है कि सामान्यतः जाति की कठोर शब्दों में आलोचना कर इसकी घोर निन्दा की जाती है। जबकि वास्तव में इस संस्था की कभी ठीक ढंग से व्याख्या नही की गई है। बोस प्रश्न करते हैं कि यदि इस संस्था में कमियां ही कमियां थी तो फिर यह संस्था रूढ़िवाद के खिलाफ हुए अनेक आन्दोलनों के बावजूद भी पिछले हजारों सालों से अधिक क्यों जीवित है।

जाति का आर्थिक संगठन दो प्रमुख तत्वों पर आधारित है। प्रथम, जाति उत्पादन कि एक ऐसी विधि है जिसमें प्रतिस्पर्धा का तत्व नही होता। यह अनुवांशिक एकाधिकार वाली शिल्पी संघों (गिल्डों) पर आधारित होती है और प्रत्येक जाति से यह आशा की जाती है कि वह अपने प्रदत्त व्यवसाय में कोई फेरदबल नही करे। कठिन परिस्थितियों में आपद धर्म का पालन करते हुए रोटी-रोजी के लिए इसमें व्यवसाय परिवर्तन करने की छूट दी गयी है। प्रतिस्पर्धा के अभाव तथा सामाजिक सामूहिक जरूरतों की बलवेदी पर व्यक्तिगत त्याग की भावना इस संस्था की विशेषता के कारण इसका ग्रामीण क्षेत्रों के मुसलमानों और इसाई में भी प्रचलित हो गया।

द्वितीय, इस संस्था ने उत्पादन आधारित अपने सामाजिक संगठन की एकता और समानता के कारण सारे भारत के विभिन्न भागों को एक सूत्र में बाँधे रखने में महती भूमिका पूँजीवाद व्यवस्था से करते हुए बताया कि जिस प्रकार इन सभी देशों में पूँजीवाद का अलग-अलग रूप होते हुए भी कुछ बातों में समानता है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के बिना हस्तक्षेप के व्यवसाय चुनने की व्यवस्था, स्वतन्त्रता, प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन तथा लाभ के लिए उत्पादन आदि)। उसी प्रकार सम्पूर्ण भारत के अलग-अलग भागों में जाति के रूप में अन्तर होते हुए भी इसके मौलिक तत्वों और मलाचारों में समानता देखी जा सकती है। इसी प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी अवधारणाओं में थोड़ा बहुत

अन्तर होते हुए भी सम्पूर्ण हिन्दू भारत में "मिताक्षर अथवा दायभाग" का उत्तराधिकार का नियम प्रचलित रहा है।

भारत की एकता में जाति की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए बोस ने कहा है कि समान्यतः जाति व्यवस्था को राष्ट्रीय एकता की भावना के उदय में बाधक माना जाता है।

भारत में जातियों का विकास उत्पादन के संगठन के उद्देश्य को लेकर हुआ है जो यूरोपीय व्यवस्था के उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न है। सामान्यतः अनेक धर्मो और आस्था के केन्द्रों, भिन्न भाषाओं, भिन्न जीवन शैलियों, अनेक प्रकार के भोजन और स्त्री, पुरूषों की पोशाकों की भिन्नताओं को भी राष्ट्रीय एकता की भावना को उद्भव न होने के कारण बताया जाता रहा है।

प्रो0 बोस के अनुसार "ये सभी भिन्नताऐं इस देश के लोगों की सत्य की पारलौकिक दृष्टि को पाने की आध्यात्मिक पीपासा में पुरोहित हो जाती है। और यह दृष्टि ही भारत के विभिन्न जाति-समुदायों में भिन्नता में एकता स्थापित करती है।

भारतीय सभ्यता को यदि हम सम्पूर्ण रूप में देखें तो हमें जीवन के भौतिक पक्षों में जाति व्यवस्था से भी अधिक भिन्नता देखने को मिलेगी। किन्तु यह विभिन्नता धार्मिक-विश्वासों और व्यवहारों जैसे जीवन के उच्च पहलुओं में बहुत कम पाई गई है। यही कारण है कि एक हिन्दू भारत के एक कोने से किसी दूसरे कोने में भी जाकर बिना किसी हिचकिचाहट और अजनबीपन की भावना से वहाँ के धार्मिक संस्कारों में भाग ले सकता है। किन्तु यह बात देश के दूसरे आर्थिक क्षेत्र पर लागू नही होती। जब तक वह स्थायी रूप से वहाँ रच-बस नही जाता है। और वहाँ कि स्थानीय जातियों द्वारा स्वीकार नही कर लिया जाता है। भोजन और वेशभूषा के मामले में तो देश के एक भाग का व्यक्ति दूसरे भाग में पराया सा नजर आता है।

जाति में परिवर्तन के सम्बन्ध में बोस ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था के ढाँचे में मूलभूत संरचनात्मक परिवर्तन या जाति-व्यवस्था में टूटन एवं विघटन तभी उत्पन्न होगा जब इसके आथ्रिक आधार में गुणात्मक रूपान्तर सम्भव हो। सामाजिक जीवन को नियमित करने वाली एक आर्थिक-व्यवस्था के रूप में जाति-व्यवस्था में भारत के कई क्षेत्रों में टूटन की शुरूआत हो चुकी है। किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में टूटन की यह रफ्तार अलग-अलग है। बोस कलकत्ता जैसे शहर में जाति में हो रहे परिवर्तन को जानने में अधीक रूचि रखते थे क्योंकि इस शहर पर आधुनिक औद्योगिक, सामाजिक और नगरीय विकास का ब्रिटिश लोगों के आगमन के बाद से लगभग दो सौ वर्षो से निरन्तर प्रभाव पड़ रहा था। कलकत्ता शहर में सन् 1962-63 में किए गए अपने एक त्वरित सर्वेक्षण के आधार पर उन्होंने निष्कर्षत: यह कहा कि पुरातन व्यवस्था के अन्तर्गत जाति के ऊपरी ढाँचे में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो रहा है। जिसमें इसका एक नया रूप उभर कर आता दिखाई देता है। फिर भी, कलकत्ता अमेरिका के शहरों के मॉडल पर ऐसा घुलन-मिलनसारी नगर अभी नही बन पाया है जहाँ विभिन्न प्रकार के लोग और उनके विचार एक दूसरे में विलय हो जाते हों। अभी भी यहाँ जातिगत निष्ठाएँ जीवित हैं। अभी भी यहाँ व्यक्ति उन लोगों के सहयोग पर निर्भर है जो उसी की भाषा में बातचीत करते है।

कलकत्ता में पिछले कुछ वर्षो में राजनीति से प्रेरित प्रतिस्पर्धात्मक जातीय संगठनों में भारी बढ़ोत्तरी के साथ-साथ उनमें काफी सक्रियता भी आई है। बोस जातीय संगठनों की इस बढ़ोत्तरी को जाति व्यवस्था के मजबूत होने का संकेत नही मानते। सन! 1958 में जाति सम्बन्धी अनेक लेख में बोस ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि जाति चेतना के विकसित हो जाने के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था में मजबूती आ गयी है। समूह-पहचान के एक तरीके के रूप में पिछले कुछ वर्षो में जाति दिखाई देती

है उसका कारण एक ही क्षेत्र के विभिन्न जातियों में सामाजिक परिवर्तन की भिन्न गति हो सकती है। बोस के अनुसार, ये नए घटनाक्रम गैर-प्रतिस्पर्धात्मक आरोपित पारम्परिक व्यवस्था से एक प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था की ओर विचलन होने या जाने में नए सामाजिक अर्थ देकर एक प्रयोग किया जा रहा है। आन्द्रे बितई की पुस्तक "जातियाँ पुरानी और नई" (1969) के समीक्षात्मक अपने लेख में बोस ने इस विचार से अपनी सहमति प्रकट की है। सैनिक नौकरशाही और सिविल सर्विस, के लोगों की एक अपनी अलग जाति बन गयी है।

प्रो0 बोस की प्रमुख कृतियाँ –

1- Culture and Society in India (1967)

2- Problems at Nationalism (1969)

प्रो0 चार्ल्स हेटिन कूले के अनुसार "व्यक्तियों में जो चेतना होती है इसके रूप का निर्धारण निरन्तर होने वाली हमारी सामाजिक अन्तक्रिया द्वारा होता है। चेतना को सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग-थलग नही किया जा सकता।" कूले की 'प्राथमिक समूह' की अवधारणा आमने-सामने के प्रत्यक्ष गहन एवं घनिष्ठ सामाजिक अन्तक्रिया पर बने सामाजिक संगठनों को प्रकट करती है जिसकी तुलना कूले ने वृहत एवं अधिक वषिमतायुक्त 'एकत्रित समूह के साथ की है (इसी समूह के बाद में सामान्यत: 'द्वितीयक समूह' का नाम दिया गया है)। इस समूह के सदस्य में विरले ही कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क होते हैं। परिवार तथा मित्रता समूह प्राथमिक समूह के और श्रमिक संघ राजनीतिक दल द्वितयक समूहों के कुछ उदाहरण हैं। कूले (1909)

प्रो0 लुई डूमाँ (ड्यूमा) की सन् 1970 में अंग्रेजी में प्रकाशित "होमो हाइअरकिकस" (सम अधिक्रमिकता) नामक भारी भरकम पुस्तक में जाति-व्यवस्था ओर उनके प्रभावों का सारगर्भित विश्लेषण किया गया है।

प्रो0 लुई डूँमा (ड्यूमा) का विचार है कि "भारत एक ऐसा समाज है जो जाति व्यवस्था की शुद्ध संस्तरण व्यवस्था से परचलित है।" डूँमा ने अपनी इस पुस्तक में जाति के इतिहास तथा उद्‌गम सम्बन्धी सिद्धान्तों से लेकर सामाजिक, संस्तरण, वर्ण व्यवस्था, अन्र्तजातीय विवाह, अस्पृश्यता, खान-पान सम्बन्धी निषेध, जातीय पंचायत जैसे अनेक विषयों पर अनेक विचार प्रकट किए हैं।

भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए डूमाँ ने लिखा है कि "समाज में परिवर्तन हो रहा है। किन्तु समाज का परिवर्तन नही हो रहा है।" जाति व्यवस्था का अपना विश्लेषण डूँमा ने पवित्रता और अपवित्रता (सूचिता-अनुसूचिता) की विचारधारा पर आधारित संस्तरण ओर पृथक्करण के मूल्यों के आधार पर किया है। व्यवसायों और जाति समूहों के अनुक्रम (पदक्रम) को निश्चित करने के लिए उन्होंने पवित्रता के स्तर को एक मात्र मापदण्ड माना है। जाति व्यवसायों के मूल्यांकन में भी डयूमाँ ने धन या उसकी अपेक्षा पवित्रता को ही प्राथमिक महत्ता प्रदान की है। यही नही उन्होंने जाति के 'राजनैतिक-आर्थिक' आयाम को द्वितीयक महत्ता दी है।

जाति को सामान्य अर्थ में एक समूह माना जाता है किन्तु जाति समूह की इस सामान्य धारणा से कहीं अधिक है। यह एक मनोदशा भी है। जिनकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्थितियों में विभिन्न स्तरों के समूहों के उद्‌भव में होती है। जिन्हें हम जातियाँ कहते है। डयूमा (1970)

गोविन्द सदाशिव घूर्ये (Ghurye, Govind Sadashiv) के अनुसार 'पारम्परिक व्यवसायिक विशिष्टकरण तेजी से समाप्त होता जा रहा है। सामाजिक व्यवहार के नियम अपेक्षाकृत उदार हो गए है अतः यह कहा जा सकता है कि जातिप्रणाली की कुछ पुरातन विशेषताएँ अब नही रही है। यह प्रणाली पूर्ववत् अपनी प्राण स्फूर्ति बनाए हुए हैं। "जाति के कुछ नियमाचार कमजोर हुए हैं। जाति संचरण पर गैर ब्राह्मणवादी आन्दोलन द्वारा प्रहार किया

जा रहा है। अपवित्रता या अनुचिता की धारणा कमजोर पड़ गई है। भोजन और पेय पदार्थों सम्बन्धी नियमों में विशेषता नगरों में काफी शिथिलता आ गयी है। किन्तु अन्तर्विवाह की जाति की विशेषता कुछ अपवादों को छोड़कर अभी भी समाज को पूरी शक्ति से कसे हुए है।

जाति में परिवर्तन सम्बन्धी घूर्ये ने तीन प्रमुख धाराओं का उल्लेख किया है - गाँधीवादी धारा, सम्मिश्रण और सामूहीकरण तथा जाति की समाप्ति। गाँधी जाति के समर्थक जाति को अपनी मौलिक व्यवस्था के रूप में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) पुनः स्थापित करने के पक्ष में ही सम्मिश्रण और सामूहिकरण तथा जाति की समाप्ति। गाँधीवादी जाति के समर्थक जाति को अपनी मौलिक व्यवस्था के रूप में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) पुनः स्थापित करने के पक्ष में ही सम्मिश्रण और सामूहिकरण की दूसरी धारा के अनुसरण कर्ता विद्यवान उपजातियों के वर्तमान स्वरूप को आर्थिक और सांस्कृतिक आधार पर वृहत जातियों में समूहीकरण के पक्ष में है इस प्रक्रिया द्वारा समान परिस्थति वाली जातियाँ धीरे-धीरे एक होती जायेंगी और अन्ततः हिन्दू समाज जाति विहीन समाज में बदल जायेगा। घूर्ये का इस बारे में मत है कि समूहीकरण की यह प्रक्रिया अत्यन्त धीमी है। इसमें शिक्षा के प्रसार और प्रगतिशील जनमत बनाने में समय लगेगा। जाति की समाप्ति की पक्षधर तीसरी धारा जाति के कुछ पक्षों को अत्यन्त निकृष्ट और राष्ट्रविरोधी मानती है। इस विचारधारा के समर्थक विद्वान (जैसे अम्बेडकर) जाति को बिना किसी नानुकच और विलम्ब के जल्दी से जल्दी समाप्त करने के पक्ष में है। घूर्ये का इस बारे में मत है कि "रक्त सम्मिश्रण आपसी सम्बन्धों को मजबूत करने और राष्ट्रीयता को बढ़ाने का एक प्रभावक उपाय है।" इसके लिए उन्होंने अन्तर्जातीय विवाहों का सुझाव दिया है।

प्रो0 रीवर्स की सामाजिक संगठन सम्बन्धी अवधारणा के आधार के रूप में उन्होंने जाति को भी सामाजिक समूहीकरण का एक रूप माना है।

प्रो0 आन्द्रे बेतई की पुस्तक "जातियाँ पुरानी और नई" की समीक्षा करते हुए प्रो0 सिन्हा ने जातियों की बदली हुई भूमिका को रेखांकित किया है और कहा है कि एक पारम्परिक व्यवस्था के रूप में जातियों की भूमिका अब सीमित हो गई है। तथा संयुक्त निगम समूहों के रूप में जातियाँ आजकल नवीन राजनीतिक एवं आर्थिक भूमिकाएं अदा करने लगी है। 'मुक्त स्तरीकरण के उभरते हुए प्रतिमान का अभी तक किसी ऐसे सचिंतन मॉडल में विकास नही हो पाया है।

प्रो0 श्रीनिवास ने कहा है कि "संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक "निम्न जाति" या "जनजाति" या कोई अन्य समूह किसी उच्च जाति, विशेषतः द्विज जाति के रीतिरिवाजों, कर्मकाण्डों, विश्वासों, और जीवन शैली को अपना लेता है।" अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया' (1969) में "संस्कृतिकरण का तात्पर्य नवीन रीति-रिवाजों और आदतों को अपनाना मात्र नही है अर्थात् उन नये विचारों और मूल्यों को अनावर्त करना है जिनकी धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार की संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार में अनेक स्थानों पर चर्चा हुई है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संस्कार और मोक्ष जैसे सर्वाधिक सामान्य संस्कार संस्कृत के धर्माशास्त्रीय विचार इसके कुछ उदाहरण है।"

सामान्यतः संस्कृतिकरण उर्ध्व गतिशीलता को प्रेरित करती है। इसके साथ जुड़ी गतिशीलता के द्वारा व्यवस्था में केवल पदात्मक परिवर्तन ही होता है।

वास्तव में अनुकरण की यह प्रक्रिया (संस्कृतिकरण) सामाजिक प्रतिस्पर्धा, सामाजिक गतिशीलता और सन्दर्भ-समूह व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों का एक हिस्सा है।

श्रीनिवास ने उस जाति को प्रभु-जाति कहा है जिसकी एक क्षेत्र विशेष में संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा काफी अधिक होती है एवं पारम्परिक पदनुक्रम में जिसकी स्थिति काफी नीची नही होती और जो आर्थिक रूप से भी समृद्ध होती है। 'डॉमिनेंट की अवधारणा अपने आप में एक विशेषता रखती है क्योंकि इसका आधार उच्चता व निम्नता नही है। अपितु आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ वह जाति क्षेत्र विशेष में संख्यात्मक दृष्टि से प्रमुखता रखती है। जाति-पदक्रम (कास्ट रैंकिंग) अब केवल सांस्कारिक परिस्थिति (रिचुअल स्टेटस) पर ही निर्भर नही करता, अपितु सत्ता ओर सम्पदा भी इसके प्रमुख कारक है।

श्रीनिवास के अनुसार प्रभुजाति के साथ चार कारक जुड़े होते है।

1. *संख्यात्मक शक्ति*
2. *संसाधनों पर नियंत्रण जैसे अधिकाधिक भूमि*
3. *राजनीतिक शक्ति पर अधिकार*
4. *सामाजिक, राजनीतिक परिस्थिति*

प्रभुत्व के अब कई अन्य कारक हो गये है। जैसे पश्चिमी शिक्षा, आरक्षण की व्यवस्था, प्रशासन में निम्न जाति के लोगों की उच्च पदों पर नौकरियाँ आय के कई नगरीय स्रोत।

स्वतन्त्रता के बाद से व्यस्क मताधिकार तथा पंचायती राज की शुरूआत ने निम्न जातियों विशेषतः हरिजन के आत्म सम्मान और शक्ति की एक नवीन भावना का संचार किया है।

श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया द्वारा जहाँ एक ओर जाति-गतिशीलता पर प्रकाश डाला है वहाँ उन्होंने पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण और लौकिकीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से भारत मे हो रहे व्यापक सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण अपने कई लेखों में किया है। पश्चिमीकरण

से श्रीनिवास का तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से हो रहा है जिनका प्रभाव अंग्रेजों का भारत में आगमन के पश्चात् भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों यथा जीवनशैली, जन्म, शिक्षा, आर्थिक संगठन, राजनीति, आदि पर पड़ा है। इन परिवर्तनकारी कारकों में यन्त्रीकरण (प्रौद्योगिकी) औद्योगिकरण, नगरीकरण, यातायात एवं संचार व्यवस्था, उदारवादी प्रजातंत्र, व्यक्तिक स्वतन्त्रता, नवीन शिक्षा प्रणाली ने मुख्य भूमिका अदा की है। संस्कृतिकरण की भाँति पश्चिमीकरण, भारतीय जनसंख्या के किसी एक वर्ष तक सीमित नही है। यह भारतीय समाज के बड़े भाग को प्रभावित करता है और स्वतन्त्र भारत में यह पहले से भी अधिक गति से हो रहा है। इसने भारत के जनजीवन में "लौकिकरण" की भी शुरूआत की है। यह प्रवृत्ति हमें संचार साधनों के विकास, नगरों और कस्बों में वृद्धि, स्थानीय गतिशीलता में अधिक्यता और शिक्षा के प्रसार के कारण अधिक मजबूत हुई दिखाई देती है। यह विरोधाभास ही है कि एक ओर भारत में संस्कृतिकरण हो रहा है तो दूसरी ओर लौकिकीकरण की प्रवृत्ति भी अपनी जड़े जमाती जा रही है।

2.6 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकः

1. **औद्योगिकरण** (Industrialization) - ज्यों-ज्यों उद्योग-धन्धों में वृद्धि होती गई कल-कारखानों का आविष्कार हुआ, अनेक लोगों को नगरों में आकर रहना पड़ा क्योंकि अधिकाधिक समय कल-कारखानों में कार्य करते समय लग जाता है। जब एक स्थान पर अनेकों लोगों को रहना पड़ता है तो स्वाभाविक है कि उनका रहन-सहन, खान-पान, साथ साथ हो। चाहे वे व्यक्ति किसी जाति के हों। औद्योगिकरण व नगरीकरण के प्रभाव ने व्यक्ति की योग्यता व तकनीकी जानकारी को प्राथमिकता दी है। चाहे व्यक्ति किसी भी जाति का हो। इससे कुशल व्यक्ति को कार्य मिला इससे उसकी सामाजिक स्थिति में उन्नति हुई। इस प्रकार साथ साथ कार्य करने, यात्रा करने तथा

परम्परागत पेशों को त्यागकर किसी विशेष कार्य के लिए विशेष परीक्षण लेने के कारण व्यक्ति जाति के प्रभाव से आगे बढ़ गया है।

2. **शिक्षा का प्रभाव (Impact of Education)** – वैदिक काल में शिक्षा किसी विशेष (उच्च ब्राह्मण) जाति तक सीमित थी तथा उसका स्वरूप भी धार्मिक ज्यादा था। शेष जातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायों को करती थी। आधुनिक समय में शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा अनिवार्य हो गई। विज्ञान के प्रभाव ने उसे और तार्किक बना दिया।

3. **पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव (Impact of Westron Civilziation)** – पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था अनेक रूप में परिवर्तित हुई है। भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, पाश्चात्य सभ्यता की देन है। जिसमें धन का महत्व बढ़ा है। इसी से आज जाति का महत्व कम हो गया है। जिसके पास धन-सम्पत्ति, आधुनिकता व पाश्चात्यता के सभी सुख-साधन हैं। उस व्यक्ति का समाज आदर करता है। इस तरह भौतिकवाद ने जाति के महत्व को कम कर दिया है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का महत्व बढ़ा है। जिसने दूसरी जाति में विवाह को प्रोत्साहन दिया है साथ ही दूसरी जाति में खान-पान, रहन-सहन भी अब प्रचलित हो गया है।

4. **धन का बढ़ता प्रभाव (Progressive Imapct of Wealth)** – प्राचीन काल में अलग-अलग जातियों के अलग-अलग व्यवसाय थे। वे परस्पर एक दूसरे की सेवा करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। आधुनिक समय मेंप्रीचन विनिमय प्रणाली में परिवर्तन हो गया। परिणामस्वरूप धन का महत्व बढ़ गया। हर वस्तु का मूल्य धन में आँका जाने लगा। समाज में धनी व्यक्ति का सम्मान बढ़ा जिससे धन कमाने के अवसर खोजे जाने लगे। अत: जिन व्यक्तियों को नीची जाति का समझा जाता था। आधुनिक समय में धन

की अधिकता ने उन्हें भी सम्मानीय व्यक्ति बना दिया। व्यक्ति का मूल्यांकन धन-सम्पत्ति के आधार पर होने लगा।

5. **यातायात एवं संचार के साधनों का प्रभाव (Theories of Origin of Caste)**- बढ़ते संचार व यातायात के साधनों के परिणामस्वरूप आज गतिशीलता बढ़ी है। अनेक कारखानों व उद्योगों की उन्नति हुई है। विभिन्न जातियों, धर्मो व इससे समानता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है जैसे - यात्रा के दौरान सीाी समान रूप से मात्र यात्री होते हैं। इसी से वे निकट बैठते हैं। खाते-पीते हैं। इस गतिशीलता के परिणामस्वरूप जातियता की भावना कम हुई है। आज व्यक्ति कहीं भी जाकर कोई उद्योग व्यवसाय कर सकता है।

6. **स्वतन्त्रता आन्दोलन (Theories of Origin of Caste)** - देश की स्वतन्त्रता के लिए सभी भारतीय जातियता की भावना को भूलाकर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के लिए तैयार हो गये थे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में अनेक भारतीय जेल गए, सत्याग्रह में भागीदार हुए।

7. **धार्मिक व सामाजिक (Religious & Social Movement)**- राजा राममोहन राय ने दयानन्द सरस्वती, रानाडे, केशव चन्द्र सेन आदि के साथ जाति-प्रथा का विरोध किया और इसके लिए अनेक आन्दोलन किए जिनमें भेदभाव-छूआछूत, पर्दाप्रथा, स्त्रियों की अशिक्षा, ब्राह्मणवाद आदि का कड़ा विरोध सम्मिलित किया। आर्य समाज ने धार्मिक आधार पर ब्रह्म समाज ने समानता के आधार पर ही आन्दोलन किए और जाति-व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप दूसरी जाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित किए जाने लगे।

8. **प्रजातन्त्र का प्रभाव (Impact of Democracy)**- स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। भारत का नवीन संविधान बना जिसमें जन्म, लिंग, धर्म, रंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव न रखने की

बात कही गई है। इसी का परिणाम है कि आज शूद्र जाति का व्यक्ति भी कुएं पर चढ़ सकता है। मन्दिर में प्रवेश कर सकता है। विद्यालय में पढ़ सकता है आदि। आज सभी देशवासियों को मौलिक अधिकार समान रूप से प्रदान किए गए है।

9. **नवीन व्यवसाय का प्रभाव (Impact of New Occupation)**- औद्योगिकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप अनेक नवीन व्यवसाय विकसित हुए है। इससे पूर्व प्रथा (जजमानी प्रथा) जिसमें एक जाति दूसरी जाति की सेवा करती थी विलुप्त होने लगी। अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर लोग अध्यापक, इंजीनियर, प्रशासनिक अधिकारी आदि किसी भी व्यवसाय को जाति का विचार किए बिना स्वीकारने लगे। परिणामस्वरूप जाति और व्यवसाय के बीच का समन्वय छूट गया। इस तरह जाति का पक्ष निर्बल हो गया।

10. **जाति पंचायतों की समाप्ति (Abolition of Caste Panchayat)**- जाति पंचायत ने जाति व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की थी। जातिय नियमों के उल्लंघन करने पर पंचायतें दण्डित करती थीं। अतः सभी पंचायतों की बातों को मानते थे।

11. **संयुक्त परिवार का विघटन (Disorganization of Joint Family)**- नगरीकरण का परिणाम एकाकी परिवार है। जब ग्रामीण नगरों की ओर व्यवसाय के कारण जाने लगे तो संयुक्त परिवार विघटित हो गए और एकांकी परिवार में जाति-व्यवस्था के नियम शिथिल हो गए। इस प्रकार ये जाति प्रथा के परिवर्तन के कारण बने।

12. **नवीन कानूनों का प्रभाव (Impact of New Laws)**- अनेक कानून संविधान में जाति-प्रथा के विरोधी है। हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम 1949; हिन्दू विवाह अधिनिमय 1955; हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956; दहेज निरोध अधिनियम 1961; अस्पृश्यता अधनियम 1955 आदि अनेक अधिनियम हैं जिनसे

प्रथा के नियम शिथिल हुए है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है इस कारण भी जाति-प्रथा का प्रभाव चला है।

मजूमदार, कुप्पूस्वामी, कालीप्रसाद, मर्फी और मैक्स बेबर आदि का दृष्टिकोण है कि जाति-व्यवस्था में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। यह व्यवस्था न तो विघटित हो रही है और न ही समाप्त हो रही है। लेकिन कमजोर अवश्य हो रही है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचार निम्न प्रकार है।

1. **डी.एन. मजूमदार** ने लिखा है कि जाति व्यवस्था में जातियों में परस्पर सम्मिश्रण और विखण्डन, जनजातियों के साथ आत्मसातकरण के कारण भी इनमें परिवर्तन तेजी से हो रहा है।

2. **कुप्पूस्वामी** (1962) ने मद्रास के छात्रों के अध्ययन में पाया कि एक बड़े अनुपात में छात्रों ने बताया कि जाति व्यवस्था असहनीय है। और वे इसे पूर्ण रूप से समाप्त कर देना चाहते हैं।

3. **काली प्रसाद** (1952) ने साम्प्रदायिक तनावों पर किए गए अपने अध्ययन में अन्तर्जातीय सम्बन्धों के सम्बन्ध में पाया कि 90 प्रतिशत उच्च जाति के लोगों को निम्न जाति के लोगों के साथ भोजन करने में कोई आपत्ति नही है। इन्होंने दूसरे अध्ययन (1954) में यह पाया कि विभिन्न जातियों की पारस्परिक दूरियाँ तेजी से समाप्त हो रही हैं।

4. **गार्डर मर्फी** (1953) ने भारत में यूनेस्को द्वारा कराए गए 1950-52 के सामाजिक तनावों के अध्ययन के निष्कर्षो में पाया गया कि अब लोग जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धों का विरोध करने लगे हैं।

5. **मैक्स वैबर** (**Max Waber**) का विचार है कि सभी जातियों के सम्बन्ध कमजोर पड़ गए हैं तथा बुद्धिजीवी विशिष्ट राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे रहे है।

6. **राधाकृष्ण मुखर्जी (Radha Krishnan Mukherjee) (1957)** का कहना है कि "जाति परिवर्तन की गत्यात्मकता के आर्थिक और सामाजिक दो पक्ष है। आर्थिक पक्ष जाति के व्यवसायिक विशेषीकरण से सम्बन्धित है और सामाजिक पक्ष उच्च जातियों की प्रथाओं को अपनाने एवं अपवित्रता वाले व्यवसायों को छोड़ने से सम्बन्धित है। इन दोनों ही क्षेत्रों में परिवर्तन हो रहे हैं और ये दोनों ही परिवर्तन जाति-व्यवस्था के परिवर्तन को पृष्ठभूमि प्रदान करते है।"

मुखर्जी का यह भी कहना है कि इन परिवर्तनों से उच्च जातियों और निम्न जातियों में परस्पर संघर्ष वृद्धि हुई है। आपने लिखा है कि नगरों में जाति-व्यवस्था में अधिक परिवर्तन हुए है। नगरों में खान-पान और सामाजिक अन्तक्रिया के प्रतिबन्ध कमजोर हो गए है और निम्न जातियों से नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं उठा ली गई हैं।

7. **एम.एन. श्रीनिवास (M.N. Srinivas) (1952)** ने लिखा है कि जातियों के पारिवारिक अधिकार और कर्तव्य समाप्त हो रहे हैं। संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण जाति व्यवस्था में परिवर्तन ला रहे है। वयक्ति की निष्ठा गाँव के स्थान पर जाति के प्रति बढ़ रही है।

8. **ई.जे. मिलर (E.J. Miller)** ने लिखा है कि "पहले अर्न्तजातीय सम्बन्धों में परम्पराओं द्वारा निर्धारित स्पष्ट अधिकार व कर्तव्य, सत्ता और अधीनता पाई जाती थी। परन्तु आज गाँव की आर्थिक संरचना में परिवर्तन के कारण अन्तर्जातीय सम्बन्धों के प्रतिमान बदल गए हैं। निम्न जातियों द्वारा सामाजिक स्तर में ऊँचा उठने के प्रयास के कारण ग्रामीण संरचना में अन्तर्जातीय संघर्ष पैदा हो गए है।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों के अतिरिक्त ब्राइस रिपान, एस.सी. दूबे आदि ने भी विचार व्यक्त किए है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन हो रहे है।

आई.पी. देसाई, घूर्ये, नर्मदेश्वर प्रसाद कपाडिया, दामले, ड्यूमोन्टा, आन्द्रे बेतेई, हैरोल्ड, गल्ड, योगेन्द्र सिंह, आदि समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन मन्द और धीरे-धीरे हो रहा है और कुछ पक्षों में तो परिवर्तन सतही (उपरिष्ठ) है। इस सम्बन्ध में इन वैज्ञानिकों के विचार निम्न है –

1. **आई.पी. देसाई (I.P. Desai)** और **दामले (Damlay)** ने लिखा है कि "जाति व्यवस्था के लक्षणों में परिवर्तन की मात्रा इतनी ज्यादा नही है जितनी की समझी जाती है। इन परिवर्तनों ने जाति व्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलुओं को समग्र रूप से प्रभावित नही किया है।"

2. **मार्क्स (Marx)** की मान्यता है कि उपनिवेशवाद ने भारत में तकनीकी और आर्थिक परिवर्तनों की नींव स्थापित की थी। जो जाति के अनुवांशिक श्रम-विभाजन की व्यवस्था को बदल देंगे जो जाति व्यवस्था अधारित है अर्थात् जातिगत व्यवसायों में परिवर्तन आयेगा।

3. **वेबर (Waiber)** के अनुसार जाति व्यवस्था में पूँजीवाद के विकास में बाधा रही है और भविष्य में भी इसकी उन्नति में जाति बाधा रहेगी।

4. **हैराल्ड गुल्ड (Herald Gould) (1988)** का कहना है कि जाति व्यवस्था पर औद्योगिकरण का प्रभाव वैबर के अनुमान से कहीं अधिक बड़ा है। परन्तु जाति की समाप्ति उतनी नही हुई है जितना मार्क्स का अनुमान था।

5. **जी. एस. घूर्ये (G.S. Ghurey)** ने लिखा है कि "आज जाति व्यक्ति के व्यवसाय को सख्ती से निर्धारित नही करती है। लेकिन कोई विवाह कहाँ करेगा उसके क्षेत्र का निर्धारण आज भी यह उसी पुरानी कठोरता के साथ निश्चित करती है। अभी तक व्यक्ति को विवाह और मृत्यु जैसे जीवन के संकटमय समय पर सहायता के लिए अपनी जाति पर ही निर्भर रहना पड़ता है।"

"हालांकि जाति अब न्याय प्रदान करने वाली इकाई नही रही है। फिर भी उसकी पकड़ अपने सदस्यों पर समाप्त नही हुई है क्योंकि वे आज भी जाति के अभिमत (विचारों) से नियंत्रित होते हैं।"

"इस व्यवस्था की कार्यशक्ति आज भी सामाजिक जीवन में उतनी ही प्रबल है जितनी हमेशा रही थी।"

6. **नर्मदेश्वर प्रसाद (Narmadeshwar Prasad) (1956)** का कहना है कि जाति से सम्बन्धित संस्कारों और विचारधारा में परिवर्तन हो रहे हैं। फिर भी जाति-व्यवस्था आज भी पहले की तरह महत्वपूर्ण है। जाति-व्यवस्था के अन्दर तो परिवर्तन हो रहे हैं। लेकिन इसके बाहर परिवर्तन नही हुए हैं।

7. **के.एम. कपाड़िया (K.M. Kapadia) (1962)** ने जाति परिवर्तन के अध्ययन में इसके चार लक्षणों - (1) जाति पंचायत, (2) सहभोज पर निषेध; (3) धार्मिक पवित्रता और (4) अन्तर्विवाह का अध्ययन किया। अध्ययन में पाया कि - (1) 1860 से 1910 के दशकों में जाति पंचायतें बहुत शक्तिशाली थी। परन्तु 1960 के दशक में वे सदस्यों के व्यवहारों और विचारों को नियन्त्रित तो कर रही थी परन्तु किसी सदस्य को जति से बहिष्कृत करने का अधिकार और शक्ति कानून के कारण खो चुकी थी। (2) सहभोजन सम्बन्धी निषेध 1960 के दशक में ग्रामों में भी कम हो गए थे। लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से ये निषेध शहरों में भी समाप्त नही हुए थे। (3) धार्मिक पवित्रता के सम्बन्ध में देखा गया कि 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों तक पवित्रता सम्बन्धी लक्षण का पालन करना अनिवार्य था। आज भी इस नियम का ग्रामों तथा नगरेतर क्षेत्रों की कुछ उच्च जाति के परिवारों में पालन किया जाता है। लेकिन अब ये नियम प्रायः समाप्त हो गये हैं। (4) आपके अनुसूचित जति के अन्तर्विवाह सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन पूर्णतः स्पष्ट नही है। अन्तर्जातीय विवाह में वृद्धि तो हुई है लेकिन दूसरी और

"हालांकि जाति अब न्याय प्रदान करने वाली इकाई नही रही है। फिर भी उसकी पकड़ अपने सदस्यों पर समाप्त नही हुई है क्योंकि वे आज भी जाति के अभिमत (विचारों) से नियंत्रित होते है।"

"इस व्यवस्था की कार्यशक्ति आज भी सामाजिक जीवन में उतनी ही प्रबल है जितनी हमेशा रही थी।"

6. **नर्मदेश्वर प्रसाद (Narmadeshwar Prasad) (1956)** का कहना है कि जाति से सम्बन्धित संस्कारों और विचारधारा में परिवर्तन हो रहे हैं। फिर भी जाति-व्यवस्था आज भी पहले की तरह महत्वपूर्ण है। जाति-व्यवस्था के अन्दर तो परिवर्तन हो रहे हैं। लेकिन इसके बाहर परिवर्तन नही हुए हैं।

7. **के.एम. कपाड़िया (K.M. Kapadia) (1962)** ने जाति परिवर्तन के अध्ययन में इसके चार लक्षणों – (1) जाति पंचायत, (2) सहभोज पर निषेध; (3) धार्मिक पवित्रता और (4) अन्तर्विवाह का अध्ययन किया। अध्ययन में पाया कि – (1) 1860 से 1910 के दशकों में जाति पंचायतें बहुत शक्तिशाली थी। परन्तु 1960 के दशक में वे सदस्यों के व्यवहारों और विचारों को नियन्त्रित तो कर रही थी परन्तु किसी सदस्य को जति से बहिष्कृत करने का अधिकार और शक्ति कानून के कारण खो चुकी थी। (2) सहभोजन सम्बन्धी निषेध 1960 के दशक में ग्रामों में भी कम हो गए थे। लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से ये निषेध शहरों में भी समाप्त नही हुए थे। (3) धार्मिक पवित्रता के सम्बन्ध में देखा गया कि 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों तक पवित्रता सम्बन्धी लक्षण का पालन करना अनिवार्य था। आज भी इस नियम का ग्रामों तथा नगरेतर क्षेत्रों की कुछ उच्च जाति के परिवारों में पालन किया जाता है। लेकिन अब ये नियम प्रायः समाप्त हो गये हैं। (4) आपके अनुसूचित जति के अन्तर्विवाह सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन पूर्णतः स्पष्ट नही है। अन्तर्जातीय विवाह में वृद्धि तो हुई है लेकिन दूसरी और

जाति में अन्तर्विवाह सम्बन्धी स्थायित्व के प्रमाण भी विद्यमान है। कपाडिया ने निष्कर्ष में लिखा है कि जातिगत निषेधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के उपरान्त भी जातियाँ समाप्त नही हो रही है।

8. **ड्यूमोण्ट** (Dumont) ने "जाति व्यवस्था को आजकल क्या होता जा रहा है?" प्रश्न का विवेचन किया है। आपकी मान्यता है कि जाति समाज के सम्पूर्ण ढाँचे में परिवर्तन नही हुआ है। समाज में परिवर्तन हुआ है न कि जाति में, जो परिवर्तन हुए है वे मात्र यह कि जातियों के बीच जो परम्परागत अन्योन्याश्रितता थी उसका स्थान सर्वाभौमिक अभेध गुटों जो आत्मनिर्भर एवं एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा ने ले लिया है।

9. **आन्द्रे बेतई (Andre Betie) (1977)** आपने जाति व्यवस्था की निम्न चार विशेषताओं में परिवर्तन पर प्रकाश डाला है - संरचनात्मक दूरी, जीवन शैली, सहभोजन सम्बन्ध और अर्न्तविवाह (1) संरचनात्मक दूरी एक उपजाति की विभिन्न उप-उप-जातियों के बीच (2) जीवन शैलियों में भी परिवर्तन आए है जो विशेष जातियों की परम्परागत व्यवस्था में विशिष्ट थे। (3) सहभोजितत्व इकाई की परिभाषा जाति सम्बन्ध के आधार पर कठोरता से की जाती थी। हाल ही के दशकों में इन इकाइयों का धीरे-धीरे विस्तार हुआ है। आज ब्राह्मण पवित्र शूद्रों के साथ भोजन कर सकते है। परन्तु सामान्यतया अपवित्र जातियों के सदस्यों के साथ नही करते है; (4) अन्तर्विवाह की इकाई में भी कुछ सीमा तक विस्तार हुआ है। अर्थात् अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे है। आन्द्रे बेतई ने यह भी स्पष्ट किया है कि ग्रामीण क्षेत्र की कृषक जातियों में ऐसे परिवर्तन कम ही मिलते है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि - (1) जाति व्यवस्था में नगरों और महानगरों में परिवर्तन अधिक हो रहे है तथा ग्रामों में बहुत कम हो रहे है। (2) जाति व्यवस्था में आन्तरिक परिवर्तन अधिक हो रहे है तथा ग्रामों में

बहुत कम हो रहे हैं। (3) जाति और उसकी उपजातियों में परस्पर दूरियां घट रही हैं। (4) व्यवसाय के लक्षणों में परिवर्तन अन्य लक्षणों की तुलना में अधिक तेजी से हो रहे हैं। (5) जाति पंचायत के दण्ड विधान जैसे - जाति से बहिष्कृत करना कमजोर पड़ रहे हैं। (6) खान-पान एवं सहभोज के प्रतिबन्धों में शिथिलता आ रही है। (7) पवित्रता-अपवित्रता में कमी आई है। (8) सभी क्षेत्रों में अभी मनोवैज्ञानिक स्तर पर परिवर्तन होना शेष है।(9) विवाह सम्बन्धी निषेधों में परिवर्तन स्पष्ट नही हुए है। (10) जाति प्रथा जातिवाद को बढ़ावा दे रही है। (11) जाति व्यवस्था में साल दर साल परिवर्तन गति में तेजी आ रही है।